बु॰शि॰
बुनियादी - शिक्षक
अंक २
१९६२

इस अंक के आकर्षण

प्रकाशक :

बुनियादी साहित्य प्रकाशन

ल ख न ऊ

संस्कृत का एक श्लोक है, जिसमें गुरु को ईश्वर का रूप कहा गया है—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुदेव महेश्वरा ।
गुरु साक्षात् परब्रह्म तस्माय श्री गुरुवे नमः ।।

सन्त कबीर ने नीचे के दोहे में स्वयं से प्रश्न किया है कि पहले गुरु का नमस्कार करुँ या भगवान का । अन्त में उन्होंने अपना निर्णय भी दिया है—

गुरु गोबिन्द दोऊ खड़े, काके लागौं पाँव ।
बलिहारी गुरुदेव की गोबिन्द दियो जनाय ।।

यहीं तक नहीं, सम्राट औरंगजेब ने अपने बन्दी पिता से पूछा था—"आप अपनी इच्छा बतलाएँ, ताकि पूरी की जा सकें ।" इसके उत्तर में शाहजहाँ ने कहा था—"मुझे पढ़ाने के लिए कुछ बच्चे दिये जायँ ।"

"ओह, आप में अब भी शाहंशाही की बू है ।" यह था औरंगजेब का उत्तर ।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सभी युगों में अध्यापक को समाज का सर्वाधिक सम्मानित स्थान प्राप्त रहा है और उसकी इस महत्ता का श्रेय उसकी विद्वत्ता, उसका ज्ञान और उसका आचरण रहा है। सांसारिक वैभव एवं ऐश्वर्य को उसने सदैव हेय समझा है। शक्तिशाली सम्राट भी उसके आगे श्रद्धावनत होते आये हैं।

तत्कालीन गुरु कुटिया में रहा करते थे। उनका जीवन दैनिक, अभावों और चिन्ताओं से मुक्त होता था। उनका सारा जीवन ज्ञानार्जन और ज्ञानदान में बीतता था। दुर्भाग्यवश आज वह स्थिति नहीं रही। गुरु की इस पतनावस्था के लिए जहाँ बहुत हद तक समाज दोषी है, गुरु की अज्ञानता और उसका चरित्र भी कम जिम्मेवार नहीं।

आज की बदलती हुई परिस्थिति में आवश्यकता इस बात की है कि हमारे शिक्षक भी अपने को नये साँचे में ढालने का प्रयास करें, तभी उनका और देश का कल्याण सम्भव है। ऐसी दशा में शिक्षक के लिए आवश्यक है कि वह अपनी जानकारी का दायरा हमेशा बढ़ाता रहे और यह तभी सम्भव है जबकि वह अपने को जागरूक और सजग रखने के प्रयास में सतत लगा रहे।

आज चीन के सीमातिक्रमण ने हमारे चिन्तन-प्रवाह में एक प्रश्न-चिन्ह खड़ा कर दिया है। देश के सामने अप्रत्याशित रूप से असंख्य कठिनाइयाँ आ गयी हैं। ऐसे समय में शिक्षक का क्या कर्तव्य होता है, हमें गम्भीरता पूर्वक सोचना-समझना होगा।

शिक्षक के लिए आज का सबसे आवश्यक कार्य यह है कि वह बदलती हुई परिस्थिति का सूक्ष्म अध्ययन, मनन और चिन्तन करे तथा जनता में फैलने वाली अफवाहों का भ्रम-निवारण करें। शिक्षकों के पास एक सेना है, जो उसके प्रचार का सर्वोत्तम साधन है। अफवाहें शत्रु को बल देती हैं। इन अफवाहों को रोकने में शिक्षक को जी-जान से जुट जाना चाहिए।

आज शिक्षक के गुरुतर कार्यभार की सीमा-रेखाएँ स्कूल की चहारदीवारी तक ही सीमित न रहकर गाँव और देहात की पूरी इकाई तक विस्तृत रूप में फैल जानी चाहिए। शिक्षक का कर्त्तव्य होता है कि वह गाँव-गाँव छात्रों के साथ कार्यक्रम बनाये। कविता, पाठ भाषण तथा एकांकी द्वारा जनता में राष्ट्रीय चेतना जागरित करे। वह व्यापारियों में ऐसी भावना भरे कि वस्तुओं का मूल्य जानबूझ कर न बढ़ाया जाय। जनता अनावश्यक वस्तुएँ कदापि क्रय न करे। राष्ट्रीय सुरक्षा कोष में यथाशक्ति सभी लोग दान दें, ऐसी भाव-भूमि का निर्माण शिक्षक आसानी से कर सकता है और यह होगा उसका सबसे बड़ा योगदान।

समाज का सच्चा नेता शिक्षक ही होता है। हमारे शिक्षकों ने भी इस ओर से आँखें मूंद ली हैं; किन्तु चीन के सीमातिक्रमण ने हमारी आँखें खोल दी हैं। हमें विश्वास है कि हमारा शिक्षक आज सबसे आगे बढ़ कर काम करेगा और समाज के लिए प्रकाश-स्तम्भ सिद्ध होगा। इस प्रकार उसे दुहरा लाभ होने वाला है। राष्ट्र-कल्याण के साथ-साथ उसका अपना खोया हुआ सम्मान-प्राप्ति का मार्ग भी बहुत दूर तक स्वतः प्रशस्त होता जायगा।

०—०—०—०

बाल-शिक्षण के मौलिक आधार

काशीनाथ त्रिवेदी

बालक मानव समाज की नींव में बैठा है । सारे मानव समाज का वही एक मूलभूत आधार है । कवियों ने, सन्तों ने, विचारकों ने और गृहस्थों ने भी बाल-जीवन की महिमा के गुण गाए हैं । सबने बालक की उपासना को एक महत्व की उपासना माना है । इधर शिक्षा शास्त्रियों और मनोविज्ञान के आचार्यों का ध्यान भी बालक की ओर गया है और उन्होंने बाल-जीवन तथा बाल-मानस की गहराइयों में उतर कर बालक के सम्बन्ध में जो विचार-सामग्री हमारे सामने प्रस्तुत की है, वह बहुत ही मननीय और विचारणीय है ।

आज का शिक्षा-शास्त्री कहता है कि बालक बड़ों का गुरु है । अंग्रेज कवि वर्डसवर्थ ने कहा है कि बालक मनुष्य का पिता है । आज का विचारक कहता है कि समाज के लिए मातृपूजा, पितृपूजा और गुरू पूजा की भांति ही अब बाल-पूजा का आरम्भ अपने नित्य के जीवन में करने का समय आ गया है । आज की हमारी उपासना बालोपासना हो, इसकी बड़ी आवश्यकता है । आज का हमारा मन्त्र है 'बालदेवो भव' ।

यों तो विचार के क्षेत्र में आज बालक की महिमा और बाल-जीवन का महत्व सारे संसार में मान लिया गया है; किन्तु जब तक बालक का जीवन वास्तव में सुखी और समृद्ध नहीं होता तबतक मनुष्य समाज के सुख को समृद्धि की आकांक्षा करना व्यर्थ ही होगा । बाल-जीवन के महत्व को व्यापक मान्यता यद्यपि मिल गयी है, फिर भी व्यवहार के क्षेत्र में आज का हमारा बाल-जीवन अनेक अभावों से ग्रस्त है ।

एक कठोर सत्य—

सच पूछा जाय तो आज का मनुष्य जितना विचार अपनी सुख-सुविधा का करता है उतना बच्चों के सुख और सुविधा का नहीं करता । घर में और समाज में आज बच्चों की जो स्थिति है वह बहुत ही गौण है । कुछ बातों में भले ही कहीं बच्चों को प्राथमिकता मिल जाती हो, किन्तु कुल मिलाकर घर, समाज, पाठशाला, सभी जगह बालक का विचार बड़ों के बाद ही करने की परम्परा बनी हुयी है । अतः बालक को अपने व्यक्तित्व का सन्तुलित विकास करने का कोई अवसर आज के लोक-जीवन में नहीं मिलता ।

वैसे, देखा जाय तो हमारे देश में हजारों वर्ष पहले ही बाल-जीवन का गहराई से विचार किया गया था और बच्चों को समाज में उपयुक्त स्थान देने की एक स्वस्थ परम्परा भी पड़ गयी । आज समूचे भारत में व्याप्त बालकृष्ण की पूजा और उपासना में हमें इसके

दर्शन होते हैं; किन्तु बाद में क्रमशः जैसे-जैसे समाज में विकृति आती गयी और देश में गुलामी का दौर शुरू हुआ, वैसे-वैसे बालक का मूल स्थान उससे छिनता गया और उसे जीवन में गौणता मिलती गयी। बालक को पाने की लालसा तो सब के मन में बराबर बनी रही; किन्तु बाल-जीवन के महत्व का विचार आम लोगों के सामने रहा ही नहीं।

हर परिवार की आकांक्षा यह रही कि उसके घर में पालना बँधे, बालक का जन्म हो और घर, बालजीवन की किलकारियों से गूँजे; परन्तु इसके साथ बालक के तन, मन तथा उसकी आत्मा के आवश्यक पोषण का जो विचार प्रत्येक परिवार में पुष्ट होना चाहिए था वह बीच के काल में पुष्ट नहीं हो पाया और धीरे-धीरे स्थिति कुछ ऐसी बनती गयी कि अच्छे खुशहाल शिक्षित और सुसंस्कृत परिवारों में भी बाल-जीवन की स्थिति अत्यन्त करुणा पूर्ण और असह्य हो उठी। उधर गरीबों और बेपढ़ों के घरों में बाल-जीवन की जो उपेक्षा हुई उसकी भी अपनी एक लम्बी और करुण कहानी है।

बच्चों की अनिवार्य भूख—

आज सारे संसार में मनुष्य का मन स्वतन्त्रता के लिए छटपटा रहा है। मनुष्य यह अनुभव कर रहा है कि उसे सर्वांग पूर्ण जीवन जीने के लिए, जिस तरह की अनुकूलता और स्वतन्त्रता आवश्यक है वह आज की किसी भी समाज-रचना अथवा राज्य-पद्धति में उसे सुलभ नहीं हो रही है। मनुष्य प्रतिक्षण अनुभव कर रहा है कि उसके चारों ओर नाना प्रकार के बन्धन जाल की तरह बिछ गये हैं और उनसे ऊपर उठ कर सर्वथा स्वतन्त्र और मुक्त जीवन बिताना उसके लिए सम्भव नहीं हो पा रहा है। यही कारण है कि दुनिया में जगह-जगह छोटी-बड़ी राज्य-क्रान्तियाँ होती चली जा रही हैं और मनुष्य-जीवन में क्रान्ति की एक व्यापक आकांक्षा जागती-सी नजर आ रही है।

जो स्वतन्त्रता, सयाने आदमी को उतनी प्रिय मालूम होती है और जिसे वह अपने समुचित विकास के लिए बहुत जरूरी समझता है, घर में बच्चे को भी आज उसी स्वतन्त्रता की जरूरत है। यों कहिए कि उसके लिए वह भूखा-प्यासा-सा रहता है। बच्चा स्वभाव से ही स्वतन्त्रताप्रिय होता है। बन्धन उसे रुचते नहीं। वे उसके विकास के बाधक होते हैं। बन्धनों से मुक्त स्वतन्त्र, स्वयंस्फूर्त और स्वावलम्बी जीवन बच्चे की अपनी खास जरूरत है। इसके बिना बच्चे का जीवन खिल नहीं सकता। उसका सही और स्वस्थ विकास हो नहीं सकता; किन्तु दुर्भाग्य से आज हमारे लोक-जीवन में बच्चों के लिए स्वतन्त्रता, स्वयंस्फूर्ति और स्वावलम्बन तीनों बहुत दुर्लभ हो गए हैं; इसलिए बच्चों का फूल-सा जीवन असमय में ही कुम्हला जाता है और वे निष्प्राण और पंगु बन जाते हैं।

बाल जीवन का चिन्तन करनेवालों ने अनुभव से यह जाना है कि बच्चा अपने जन्म के समय से ही अत्यन्त संस्कार सक्षम होता है। हर छोटी-बड़ी वस्तु का सूक्ष्म संस्कार ग्रहण

करने की शक्ति उसमें जन्म के पहले दिन से ही मौजूद रहती है। वह माँ के पेट में नौ-दस महीने रहने के बाद इस दुनिया में आता है। यहाँ की हर चीज उसके लिए नयी होती है। बच्चा उस समय बहुत ही थका होता है, उसे शान्ति की आवश्यकता रहती है, एकान्त की आवश्यकता रहती है, व्यवस्थितता और नियमितता की आवश्यकता रहती है, स्वच्छता और सुघड़ता भी उसके लिए जन्म के पहले दिन से ही आवश्यक है; किन्तु हमारे समाज की आज जैसी जीवन-प्रणाली है और जन्म के समय बच्चे की तथा उसकी माँ की जैसी व्यवस्था हम करते हैं, उसके कारण जन्म के क्षण से ही हमारे बच्चे का जीवन करुणा से भर जाता है।

हमारे विरोधी व्यवहार--

बच्चे को सम्पूर्ण शान्ति चाहिए। हम अशान्ति देते हैं। उसे एकान्तता चाहिए, हम उसके आसपास भीड़ लगाते हैं। वह आराम चाहता है, हम उसे खिलौना समझ कर उससे खेलने का यत्न करते हैं। वह आहार-विहार में नियमित रहना चाहता है, उसकी प्रकृति नियमितता की माँग करती है; परन्तु चूँकि हमारे जीवन में नियमितता का कोई आग्रह नहीं होता, माताओं का और घर के बड़े-बूढ़ों का अपना जीवन व्यवस्थित और नियमित नहीं होता; इसलिए बच्चे को भी घर में नियमितता और व्यवस्थितता का कोई लाभ नही मिल पाता।

जिन्होंने शिशुओं के जीवन का सूक्ष्म अध्ययन किया है, वे हम से कहते हैं कि बच्चा अत्यन्त व्यवस्था-प्रिय होता है। थोड़ी भी अव्यवस्था उसे अशान्त बना देती है; परन्तु चूँकि हमें आम तौर पर इस का कोई बोध नहीं होता; इसलिए हम व्यवस्था-प्रिय बालक को जन्म के दिन से ही अपनी अव्यवस्था का उपहार देकर उसके जीवन में कारुणिकता का संचार कर देते हैं। अक्सर देखा जाता है कि घर के बच्चे और बड़े शिशुओं के सामने उनकी उपस्थिति में बहुत जोर से बोलते हैं, हँसते हैं, चिल्ला-चिल्ला कर लड़ते-झगड़ते हैं, चीजों को उठाते-रखते समय जोर की आवाजें करते हैं, हाल के जन्मे शिशु के लिए हमारे सारे कार्य अत्यन्त त्रासदायक होते हैं। वह चौंकता है, घबड़ाता है, रोता है और डरता है। हम उसके इस दुख को समझ नहीं पाते। हम और अधिक शोर मचाते हैं, उसे और अधिक जगाते हैं और जब कोई उपाय काम नहीं करता तो भोली माँ बच्चे को दूध पिलाने बैठ जाती है।

कुछ ऐसा ख्याल ही बन गया है कि बच्चा जब भी रोये माँ का दूध पिला दिया जाय। बच्चे के तन और मन के स्वास्थ्य का कोई विचार ही नहीं करता। बिना विचारे बच्चे के रोने से घबड़ा कर या अबूझ बन कर जब माँ बच्चे को बार-बार बिना भूख के दूध पिलाती है तो उस दूध से वह पोषण प्राप्त नहीं कर पाता। इस तरह अविचार-पूर्वक और घबराहट में पिलाया गया दूध बच्चे के स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद होता है; पर हम इसका विचार नहीं करते हैं। इस तरह हमारे अपने अज्ञान और अविचार के कारण जन्म के आरम्भ से ही बच्चे के जीवन की कारुणिकता का भी आरम्भ होता है।

(क्रमशः)
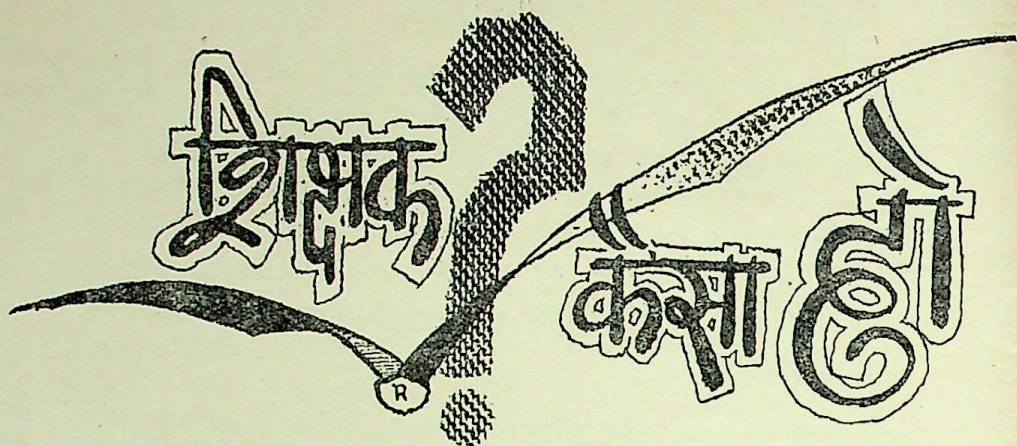
लक्ष्मणप्रसाद भारद्वाज

हमारी बेसिक पाठशालाओं में कैसे अध्यापक होने चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से भिन्न-भिन्न प्रकार से दिया जा सकता है । साधारणतया चार दृष्टिकोणों से इस प्रश्न पर विचार किया जा सकता है, जो निम्नलिखित हैं—

(१) अपने प्रति अथवा शिक्षण व्यवसाय के प्रति शिक्षक के क्या कर्त्तव्य हैं ?

(२) अपने छात्रों के प्रति उसके क्या कर्त्तव्य हैं ?

(३) पाठशाला के अन्य सहयोगी अध्यापकों के प्रति उसके क्या कर्त्तव्य हैं ?

(४) जिस समुदाय के बीच वह रहता है अर्थात जहाँ उसकी पाठशाला स्थित है, उस स्थान पर रहने वाले जनसाधारण के प्रति उसके क्या कर्त्तव्य हैं ?

ये चारों ही प्रश्न इतने महत्व के हैं कि आदर्श अध्यापक का स्वरूप निश्चित करने के लिए इनमें से प्रत्येक पर विस्तार पूर्वक विचार करना होगा । प्रायः देखा जाता है कि शिक्षण व्यवसाय ग्रहण करते ही हमारे अध्यापक भाइयों में हीनता का भाव प्रवेश कर आता है । वे समझने लगते हैं कि अन्य व्यवसायों की अपेक्षा मुझे कम वेतन मिलने के कारण मेरा स्थान समाज में नीचा है । साथ ही कुछ लोगों को यह भी कहते सुना गया है कि वे ही लोग शिक्षक बनते हैं, जो और कुछ नहीं बन पाते । जिन्हें अन्य उच्चतर सरकारी नौकरी नहीं मिल पाती वे हार कर स्कूलों में अध्यापक बन जाते हैं ।

यह सच है कि इस प्रकार के हीनता के भावों को उत्पन्न करने-कराने में हमारे समाज का भी दोष है । दुर्भाग्य से आज के समाज में प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक कार्य का मूल्य धन की तराजू में तौल कर आँका जाता है । जो अधिक वेतन पाता है, वह अधिक आदर का पात्र समझा जाता है, जो कम पाता है वह कम । इस सम्बन्ध में मेरा अपना निश्चित विचार तो यह है कि वास्तव में इस प्रकार के हीन भाव के उत्पन्न होने में समाज से अधिक स्वयं अध्यापकों का दोष है । वे स्वयं अपने को दूसरों की अपेक्षा हीन समझने लगते हैं । समझने ही

नहीं, कहने भी लगते हैं और प्रचार करने लगते हैं। इस सम्बन्ध में हमें याद रखना चाहिए कि हम बच्चों के ही शिक्षक नहीं, समाज के भी शिक्षक हैं। उसके दृष्टिकोण को बदलने का उत्तरदायित्व भी हमी पर है। शिक्षकों और अध्यापकों के प्रति समाज का जो यह विचार बन चला है, आशा उन्मूलन करने की हमने कब चेष्टा की है। यदि शिक्षक को स्वयं अपने शिक्षक होने का गर्व हो तो अवश्य ही उसकी आवश्यक प्रतिक्रिया समाज पर होगी, उसकी-धारणा बदलेगी।

अब प्रश्न यह होता है कि इस धारणा के सम्बन्ध में स्वयं अध्यापक को क्या करना होगा, किस प्रकार उसे अपने प्रति गर्व का भाव उत्पन्न करना होगा। हमारा देश प्राचीन परम्पराओं का देश है। गुरुओं के प्रति इस देश में महान आदर और श्रद्धा के विचार रहे हैं।

सन्त कबीर के शब्दों में गुरु का स्थान गोविन्द से भी ऊँचा है। यद्यपि पुरानी परम्पराओं के प्रति हमारा समाज उदासीन सा रहने लगा है, कहीं-कहीं उनका विरोध भी किया जाता है; परन्तु यह भी मानना पड़ेगा कि अभी हमारे रक्त में वे परम्पराएँ घुली मिली हैं। अतः अध्यापक का प्रथम कर्तव्य तो अपने प्रति और सम्पूर्ण शिक्षण व्यवसाय के प्रति यह है कि गुरुओं के प्रति प्राचीन परम्परा को जीवित रखे, उसे बढ़ावे। स्वयं शिक्षकों को यह समझना होगा कि जीवन में धन या वेतन ही एक ऐसी वस्तु नहीं, जिससे मनुष्य बड़ा-छोटा आँका जाय। इससे अधिक महत्व की चीज यह है कि आप जिस कार्य को करते हैं, वह कितना उपयोगी है।

इस विषय पर किसी का मतभेद नहीं हो सकता कि शिक्षक का काम राष्ट्र का निर्माण करना है। आये दिन बड़े-बड़े नेता शिक्षकों को Nation Builder—नेशन बिल्डर—राष्ट्र निर्माता के नाम से पुकारते हैं। बुनियादी पाठशालाओं के अध्यापकों के हाथों से ही इस भवन की बुनियाद रखी जाती है। यही एक धारणा हमारे उन भाइयों के लिए परम सन्तोष का कारण बन सकती है।

एक और भी बात है। वह यह है कि जब हम अपने जीवन को किसी आदर्श के लिए समर्पित कर देते हैं, जब उस आदर्श के अनुसार जीवनयापन करना हमारी साधना और हमारा ध्येय हो जाता है तो जीवन का रूप ही बदल जाता है। ऊपर हमने जो कुछ कहा है उसमें यद्यपि आदर्श की बात आती है, फिर भी आदर्शों की बात के सम्बन्ध में लेखक को अपने गुरुवर स्वर्गीय श्री लक्ष्मीनारायण माथुर की याद आ जाती है, जिन्होंने एक छोटे से नगर में अल्प वेतन पाकर भी सम्बन्धी प्रयोगों के माध्यम से जीवन भर निभाया। उनके कार्यक्रम में शिक्षक का आदर्श लगा हुआ था—"Let us live for Children" हम अपना जीवन बच्चों की सेवा में व्यतीत करें।

'क्रमशः'

गांधीजी

[प्रस्तुत लेख में बापू ने अपने शिक्षा सम्बन्धी अनुभवों का वर्णन करने के साथ-साथ शिक्षा का माध्यम क्या हो, इस विषय पर विद्वता पूर्वक प्रकाश डाला है, जो आज की परिस्थितियों में भी अध्ययन, मनन एवं चिन्तन का एक अनिवार्य विषय है। —सम्पादक]

ऊंची शिक्षा के सम्बन्ध में अपने विचारों को प्रकट करने के लिए हमें अपनी भीरुता या संकोचभावना को छोड़ना ही पड़ेगा, जो लगभग आत्मदमन की हद तक पहुँच गयी है। इसके लिए न तो मुझे उपहास का भय करना चाहिए, न लोक-प्रियता या प्रतिष्ठा की ही चिन्ता होनी चाहिए; क्योंकि अगर मैं अपने विश्वास को छिपाऊँगा तो निर्णय की भूलों को भी कभी दुरुस्त नहीं कर सकूंगा; लेकिन मैं तो हमेशा उन्हें ढूंढ़ने और उससे भी अधिक उन्हें सुधारने के लिए उत्सुक हूँ।

मेरे चार निष्कर्ष

अब मैं अपने उन निष्कर्षों को बता दूं, जिन पर मैं कई वर्षों से पहुँचा हूँ और जब भी मौका मिला है मैंने उनको अमल में लाने की कोशिश की है।

१—दुनिया में प्राप्त हो सकने वाली ऊँची से ऊँची शिक्षा का भी मैं विरोधी नहीं हूँ।

२—राज्य को जहाँ भी निश्चित रूप से इसकी ज्यादा जरूरत हो वहाँ इसका खर्च उठाना चाहिए।

३—साधारण आमदनी द्वारा सारी उच्च शिक्षा का खर्च चलाने के मैं खिलाफ हूँ।

४—मेरा यह निश्चित विश्वास है कि हमारे कालेजों में साहित्य की जो इतनी सारी तथा कथित शिक्षा दी जाती है वह सब बिल्कुल व्यर्थ है और उसका परिणाम शिक्षित वर्गों में बेकारी के रूप में हमारे सामने आया है। यही नहीं, बल्कि जिन लड़के-लड़कियों को हमारे कालेजों की चक्की में पिसने का दुर्भाग्य प्राप्त हुआ है, उनके मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य को भी इतने चौपट कर दिया है।

शिक्षण का माध्यम मातृभाषा ही क्यों ?

विदेशी भाषा के माध्यम ने जिसके जरिए भारत में ऊँची शिक्षा दी जाती है, हमारे राष्ट्र को हद से ज्यादा बौद्धिक और नैतिक आघात पहुंचाया है। अभी हम अपने इस जमाने के इतने नजदीक हैं कि नुकसान का निर्णय नहीं कर सकते और फिर ऐसी शिक्षा पानेवाले हम को इस का शिकार और न्यायाधीश दोनों बनना है, जो कि लगभग असम्भव काम है।

अब मेरे लिए यह बतलाना आवश्यक है कि मैं इन निष्कर्षों पर क्यों पहुँचा ? यह शायद अपने कुल अनुभवों के द्वारा ही मैं सबसे अच्छी तरह बतला सकता हूँ।

१२ बरस की उम्र तक मैंने जो शिक्षा पायी वह अपनी मातृभाषा गुजराती में पायी थी। उस वक्त गणित, इतिहास और भूगोल का मुझे थोड़ा-थोड़ा ज्ञान था। इसके बाद में एक हाई स्कूल में दाखिल हुआ, उसमें भी पहले तीन साल तक तो मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम रही, लेकिन स्कूल-मास्टर का काम तो विद्यार्थियों के दिमाग में जबरदस्ती अंग्रेजी और उसके मनमाने उच्चारण पर काबू पाने पर लगाया जाता था। ऐसी भाषा का पढ़ना हमारे लिए कष्टपूर्ण अनुभव था, जिसका उच्चारण करना एक अजीब सा अनुभव था, लेकिन यह तो मैं प्रसंगवश कह गया, वस्तुतः मेरी दलील से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है, मगर पहले तीन साल तक तुलनात्मक रूप में ठीक ही निकल गए।

जिल्लत तो चौथे साल से शुरू हुई। बीज गणित, रसायन शास्त्र, ज्योतिष, इतिहास, भूगोल हरेक विषय मातृभाषा के बजाय अंग्रेजी में ही पढ़ना पड़ा। कक्षा में अगर कोई विद्यार्थी गुजराती. जिससे कि वह समझता था, बोलता तो उसे सजा दी जाती। हां, अंग्रेजी को, जिसे न तो वह पूरी तरह समझ सकता था और न शुद्ध बोल सकता था, अगर वह बुरी तरह बोलता तो भी शिक्षक को कोई आपत्ति नहीं होती। शिक्षक भला इस बात की फिक्र क्यों करें, क्योंकि खुद उसकी अंग्रेजी निर्दोष नहीं थी। इसके सिवाय और हो क्या सकता था; क्योंकि अंग्रेजी उनके लिए भी उसी तरह विदेशी भाषा थी जिस तरह कि उसके विद्यार्थी के लिए। इससे बड़ी गड़बड़ होती थी।

हम विद्यार्थियों को अनेक बातें कंठस्थ करनी पड़तीं हालांकि हम उन्हें पूरी तरह समझ नहीं सकते थे और कभी-कभी तो बिल्कुल ही नहीं समझ सकते थे। शिक्षक के हमें

ज्योमेट्री समझाने की भरपूर कोशिश करने पर मेरा सिर घूमने लगता । सच तो यह है कि रेखागणित पहली पुस्तक के तेरहवें साध्य तक जब तक न पहुंच गए, मेरी समझ में ज्योमेट्री बिलकुल नहीं आयी और और पाठकों के सामने मुझे यह मंजूर करना चाहिए कि मातृभाषा के अपने सारे प्रेम के बावजूद भी मैं यह नहीं जानता कि ज्योमिट्री, अलजिब्रा आदि विषयों के पारिभाषिक शब्दों को गुजराती में क्या कहते हैं । हां, यहाँ अब मैं जरूर देखता हूं कि जितना गणित, रेखागणित, रसायनशास्त्र और ज्योतिष सीखने में मुझे चार साल लगे, अगर अंग्रेजी के बजाय गुजराती में मैंने यह पढ़ा होता तो उतना मैंने एक ही साल में आसानी से सीख लिया होता । उस हालत में मैं आसानी और स्पष्टता के साथ इन विषयों को समझ लेता । गुजराती का मेरा शब्दज्ञान कहीं समृद्ध हो गया होता और उस ज्ञान का मैंने अपने घर में उपयोग किया होता; लेकिन इस अँग्रेजी के माध्यम ने तो मेरे और मेरे कुटुम्बियों के बीच, जो कि अंग्रेजी स्कूलों में नहीं पढ़े थे, एक अदम्य खाई पैदा कर दी ।

मेरे पिता को यह पता न था कि मैं क्या कर रहा हूं । मैं चाहता तो भी अपने पिता की इस बात में दिलचस्पी पैदा नहीं कर सकता था कि मैं क्या पढ़ रहा हूं; क्योंकि यद्यपि बुद्धि की उनमें कोई कमी नहीं थी, वह अंग्रेजी नहीं जानते थे, इस प्रकार अपने ही घर में बड़ी तेजी के साथ अजनबी बनता जा रहा था । निश्चय ही मैं औरों से ऊंचा आदमी बन गया था । यहां तक कि मेरी पोशाक भी अपने आप बदलने लगी; लेकिन मेरा जो हाल हुआ वह कोई असाधारण अनुभव नहीं था; बल्कि अधिकांश का यही हाल होता है ।

एक दो शब्द साहित्य के बारे में भी—अंग्रेजी गद्य और पद्य की कई किताबें हमें पढ़नी पड़ी थीं । इसमें शक नहीं कि यह सब बढ़िया साहित्य था; लेकिन सर्व साधारण की सेवा या उसके संम्पर्क में आने में इस ज्ञान का मेरे लिए कोई उपयोग नहीं हुआ । मैं यह कहने में असमर्थ हूं कि मैंने अंग्रेजी गद्य और पद्य न पढ़ा होता तो मैं एक बेशकीमती खजाने से वंचित रह जाता । इसके बजाय सच तो यह है कि अगर इन सात सालों में गुजराती पर प्रभुत्व करने में लगाए होते और गणित, विज्ञान तथा संस्कृत आदि विषयों को गुजराती में पढ़ा होता तो इस तरह प्राप्त किये हुए ज्ञान में मैंने अपने पड़ोसियों को आसानी से हिस्सेदार बनाया होता । उस हालत में मैंने गुजराती साहित्य को समृद्ध किया होता और कौन कह सकता है कि अमल में उतरने की अपनी आदत तथा देश और मातृभाषा के प्रति अपने बेहद प्रेम के कारण सर्व-साधारण की सेवा में मैं और भी अधिक अपनी देन क्यों न दे सका ?

यह हरगिज न समझना चाहिए कि अंग्रेजी या उसके श्रेष्ठ साहित्य का मैं विरोधी हूं । "हरिजन" मेरे अंग्रेजी-प्रेम का पर्याप्त प्रमाण है; लेकिन उसके साहित्य की महत्ता भारतीय राष्ट्र के लिए इससे अधिक उपयोगी नहीं, जितनी कि उसके लिए इंगलैण्ड की समशीतोष्ण जलवायु या वहाँ के सुन्दर दृश्य हैं । हमें और हमारे बच्चों को तो अपनी खुद की विरासत बनानी चाहिए । अगर हम दूसरों की विरासत लेंगे तो अपनी नष्ट कर बैठेंगे ।

सच तो यह है कि विदेशी सामग्री पर हम कभी उन्नति नहीं कर सकते। मैं तो चाहता हूँ कि राष्ट्र अपनी ही भाषा का कोष भरे और इसके लिए संसार की अन्य भाषाओं का कोष भी अपनी ही देशी भाषाओं में संचित करे।

एक धोखी दलील

हमारे कालेजों में जो समय की बरबादी होती है उसके पक्ष में दलील यह दी जाती है कि कालेजों में पढ़ने के कारण इतने विद्यार्थियों में से अगर एक जगदीश बोस भी पैदा हो सके तो हमें इस बरबादी की चिंता करने की जरूरत नहीं। अगर यह बरबादी अनिवार्य होती तो मैं जरूर इस दलील का समर्थन करता; लेकिन मैं आशा करता हूँ कि मैंने यह बतला दिया है कि यह न तो अनिवार्य थी और न अभी ही अनिवार्य है; क्योंकि जगदीश बोस वर्तमान शिक्षा की उपज नहीं थे। वे भयंकर कठिनाइयों और बाधाओं के बावजूद अपने परिश्रम की बदौलत ऊंचे उठे और उनका ज्ञान लगभग ऐसा बन गया, जो सर्व-साधारण तक नहीं पहुँच सकता; बल्कि ऐसा मालूम पड़ता है कि हम यह सोचने लगे हैं कि जब तक कोई अंग्रेजी न जाने तब तक वह बोस के सदृश्य महान वैज्ञानिक होने की आशा नहीं कर सकता। यह ऐसी मिथ्या धारणा है, जिससे अधिक की मैं कल्पना ही नहीं कर सकता। जिस तरह हम अपने को लाचार समझते मालूम पड़ते हैं, उस तरह एक भी जापानी अपने को नहीं समझता।

यह बुराई जिसका कि मैंने वर्णन करने की कोशिश की है, इतनी गहरी पैठी हुई है कि कोई साहस पूर्ण उपाय ग्रहण किये बिना काम नहीं चल सकता।

प्रान्तीय भाषाओं की उपेक्षा क्यों ?

विश्वविद्यालय को स्वावलम्बी जरूर बनाना चाहिए। राज्य को तो साधारणतः उन्हीं को शिक्षा देनी चाहिए, जिनकी सेवाओं की उसे आवश्यकता हो। अन्य सब शिक्षाओं के अध्ययन के लिए उसे खानगी प्रयत्न को प्रोत्साहन देना चाहिए। शिक्षा का माध्यम तो एकदम और हर हालत में बदल जाना चाहिए, और प्रांतीय भाषाओं को उनका वाजिब स्थान मिलना चाहिए। यह जो काबिले सजा बरबादी रोज ब रोज हो रही है, इसके बजाये तो अस्थायी रुप से अव्यवस्था हो जाना भी पसंद करूँगा।

प्रांतीय भाषाओं का दर्जा और व्यावहारिक मूल्य बढ़ाने के लिए मैं चाहूंगा कि अदालतों की कारवाई अपने-अपने प्रान्त की ही भाषा में हो। प्रान्तीय धारासभाओं की कारवाई को प्रान्तीय भाषा या जहाँ एक से अधिक भाषाएँ प्रचलित हों, उनमें चाहिए। धारा सभाओं के सदस्यों से मैं कहना चाहता हूँ कि वे चाहें तो एक महीने के अन्दर अपने प्रान्तों की भाषाएँ भली-भाँति समझ सकते हैं।

मेरी सम्मति में यह कोई ऐसा प्रश्न नहीं है कि जिसका निर्णय साहित्यकों के द्वारा हो। वे इस बात का निर्णय नहीं कर सकते कि किस स्थान के लड़के-लड़कियों की पढ़ाई किस भाषा में हो; क्योंकि इस प्रश्न का निर्णय हर एक स्वतन्त्र देश में पहले ही हो चुका है। न वे यही निर्णय कर सकते हैं कि किन विषयों की पढ़ाई हो, क्योंकि यह उस देश की आवश्यकता पर निर्भर रहता है, जिस देश के बालकों की पढ़ाई होती है। उन्हें तो बस यही सुविधा प्राप्त है कि राष्ट्र की इच्छा को यथा-सम्भव सर्वोत्तम रूप में लायें।

अतः जब हमारा देश वस्तुतः स्वतन्त्र होगा तब शिक्षा के माध्यम का प्रश्न केवल एक ही तरह से हल होगा। साहित्यिक लोग पाठ्यक्रम बनायेंगे और फिर उसके अनुसार पाठ्य पुस्तकें तैयार करेंगे, और स्वतन्त्र भारत की शिक्षा पाने वाले विदेशी शासकों को करारा जवाब देंगे। जब तक हम शिक्षित वर्ग इस प्रश्न के साथ खिलवाड़ करते रहेंगे, मुझे इस बात का बहुत भय है कि हम जिस स्वतन्त्र और स्वस्थ भारत का स्वप्न देखते हैं उसका निर्माण नहीं कर पायेंगे। हमें तो सतत प्रयत्नपूर्वक अपनी गुलामी से मुक्त होना है। फिर वह चाहे शिक्षणात्मक हो या आर्थिक अथवा सामाजिक या राजनीतिक। तीन चौथाई लड़ाई तो वही प्रयत्न होगा, जो इसके लिए किया जायगा।

इस प्रकार मैं इस बात का दावा करता हूँ कि मैं उच्च शिक्षा का विरोधी नहीं हूँ; लेकिन उस ऊँची शिक्षा का मैं जरूर विरोधी हूँ, जो इस देश में दी जा रही है। मेरी योजना के अन्दर तो अब से अधिक और अच्छे पुस्तकालय होंगे और अधिक संख्या में और अच्छी रसायनशालाएँ और प्रयोगशालाएँ होंगी। उसके अन्तर्गत हमारे पास जैसे रसायनशास्त्रियों इंजीनियरों, रसायनविशेषज्ञों की फौज होनी चाहिए, जो राष्ट्र के सच्चे सेवक हों और उस प्रजा की बढ़ती हुई विविध आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें, जो अपने अधिकारों और अपनी आवश्यकताओं को दिन-दिन अधिकाधिक अनुभव करती जा रही है और ये सब विशेषज्ञ विदेशी भाषा नहीं; बल्कि जनता की ही भाषा बोलेंगे, ये लोग जो ज्ञान प्राप्त करेंगे वह सब की सम्मिलित सम्पत्ति होगी। तब खाली नकल की जगह सच्चा असली काम होगा और उसका खर्च न्यायपूर्वक समान रूप से विभाजित होगा।
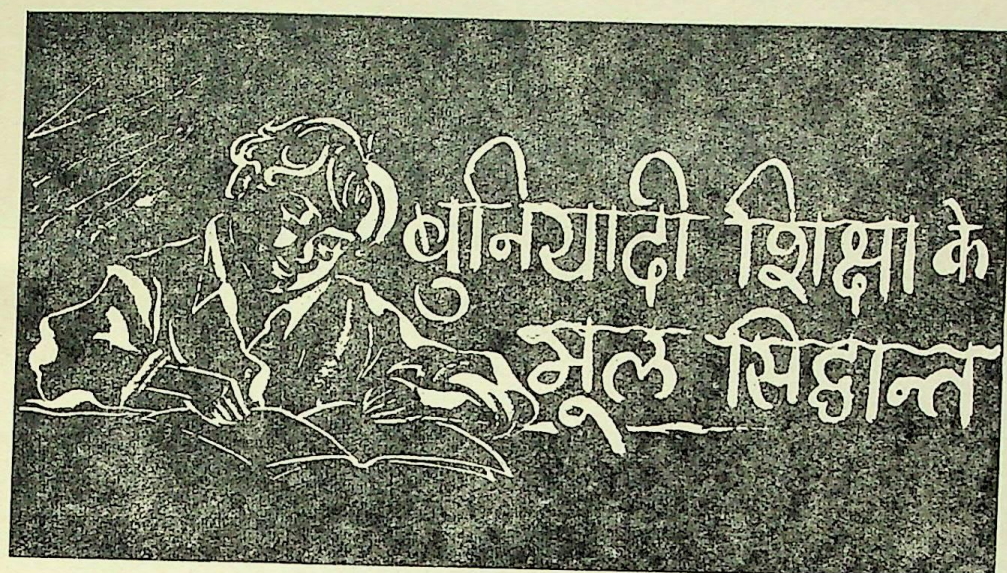
आर्यनायकम्

'गाँधीजी के कार्यक्रम में एकता' पर भाषण करते हुए एक बार आचार्य कृपलानी ने कहा था—"गांधीजी हमारे राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन में पूरी क्रांति पैदा करना चाहते हैं और इस महान क्रांति के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक भिन्न-भिन्न पहलुओं में एक दूसरे के साथ अत्यन्त सामन्जस्य है। उन्होंने बतलाया था कि इस क्रान्ति का उद्देश्य एक ऐसे समाज की सृष्टि करना है, जो मौजूदा समाज से भिन्न होगा। इस समाज की बुनियाद में सत्य, अहिंसा और इन्साफ के आदर्श होंगे।"

देहाती, राष्ट्रीय शिक्षा क्यों और कैसे ?

हमारे सामने सवाल यह है कि मौजूदा साधनों से इस नये समाज की सृष्टि एक नए किस्म के व्यक्ति के जरिये ही हो सकती है और यह नये किस्म के व्यक्ति एक नये किस्म की शिक्षा-पद्धति के जरिये ही तैयार किये जा सकते हैं। इस तरह गांधीजी कदम ब कदम चल कर राष्ट्रीय शिक्षा के कार्यक्रम तक पहुंचे थे और उन्होंने उसे देश के सामने रखा था।

आज हमारे सामने अहम सवाल यह पैदा होता है कि तालीम की जो नयी योजना, नये किस्म के व्यक्तियों की सृष्टि करना चाहती है, उसके बुनियादी उसूल या आधारभूत विशेषताएं क्या हैं ?

गांधीजी ने बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा की सम्पूर्ण योजना की मुख्य बातें 'बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा' नामक पुस्तक की भूमिका में स्वयं बतला दी हैं। वे कहते हैं, उसका अधिक यथार्थ

बल्कि बहुत कम आकर्षक वर्णन होगा—देहाती दस्तकारी के जरिये देहाती राष्ट्रीय शिक्षा। देहाती शिक्षा में नाम मात्र की ऊंची या अंग्रेजी शिक्षा का समावेश नहीं होता। राष्ट्रीय का मतलब अभी सत्य और अहिंसा है और देहाती दस्तकारी के जरिए का अर्थ यह है कि योजना तैयार करने वाले लोग शिक्षकों से आशा करते हैं कि अपने गांव के देहाती बालकों को इस ढंग से तालीम दें कि उनकी तमाम छिपी हुई शक्तियों का विकास सहज ढंग से हो। किसी बाहरी दबाव या दस्तन्दाजी के बिना अछूते वातावरण में किसी चुनी हुई देहाती दस्तकारी के द्वारा हो। इस तरह से विचार करने पर यह योजना तालीम के क्षेत्र में क्रान्तिकारी साबित होगी। वह किसी भी अर्थ में पश्चिम से लाई हुई चीज नहीं है।

भारतीय राष्ट्र गांवों में रहता है, इसलिए राष्ट्र के बालकों के लिए निर्धारित राष्ट्रीय शिक्षा का रूप देहाती होना जरूरी है। ध्यान देने लायक एक खास बात यह भी है कि हमारी सभ्यता और संस्कृति का सम्बन्ध बुनियादी रूप में गांवों से है इसलिए भी हमारी शिक्षा का रूप देहाती ही होना चाहिए। पिछले दिनों में इस मरती हुई सभ्यता को सजीव शिक्षण संस्थाओं के जरिये फिर से जीवित रखने की कोशिशें जरूर की हैं। उन कोशिशों ने आश्रमों, राष्ट्रीय विद्यापीठों और गुरुकुलों का रूप धारण किया परन्तु इन संस्थाओं ने प्रचलित शिक्षा पद्धति के साथ अपना सम्बन्ध पूरा-पूरा न तोड़ा यानी ये संस्थाएं जिस तरह की क्रान्ति करना चाहती थीं उसका रूप बुनियादी न था। वह पुराने रूप और नये आदर्श का मेल था। यही कारण है कि असली तह तक न पहुंच सकने के कारण इनकी कोशिशें पूरी-पूरी सफल न हुईं, क्योंकि उन्होंने भीतरी मकसद को छोड़ कर बाहरी रूप पर ध्यान दिया। पाठ्यक्रम, देहाती जिंदगी का कुदरती विकास न होकर बाहर से लादी हुई चीज थी। उसकी बुनियाद में दस्तकारी या उद्योग-धंधों को नहीं दिया गया था।

शिक्षा का औद्योगिक आधार—

यहाँ इस बात को समझ लेने की जरूरत है कि बुनियाद में दस्तकारी या उद्योग धन्धे वाली तालीम से गांधीजी का मतलब क्या है। इस पद्धति की शिक्षा के लिए आवश्यक है कि जो उद्योग धन्धे आज केवल यन्त्रवत सिखाये जाते हैं वे वैज्ञानिक ढंग से सिखाये जायँ यानी बच्चों को यह समझाया जाय कि कौन सी क्रिया किस लिए की जाती है। तभी सफलता मिल सकेगी।

दस्तकारी या उद्योग धन्धों के जरिए शिक्षा देना तालीम के इतिहास में कोई नई बात नहीं है। पेस्टालजी के समय से शुरू होकर शिक्षा विशारदों ने दुनिया के हरएक हिस्से में बार-बार एलान किया है कि वास्तविक और पूरी शिक्षा सिर्फ दस्तकारी के जरिये ही दी जाय और कुछ लोगों ने इस उसूल पर किसी हद तक अमल भी किया है।

लेकिन, दूसरों से गांधीजी के विचार में यह अन्तर है कि वे इस शिक्षा सम्बन्धी सिद्धान्त को उसके आखिरी नतीजे तक ले गये हैं; क्योंकि उन्होंने सिर्फ यही नहीं कहा कि

सारी शिक्षा किसी उद्योग धन्धे के जरिये दी जाय; बल्कि यह भी कहा है कि शिक्षा स्वावलम्बी भी हो। नयी तालीम के किसी दूसरे पहलू की उतनी नुक्ता चीनी नहीं हुयी है जितनी उसके स्वावलम्बी कहे जाने वाले पहलू की। इसलिए यह समझना जरूरी है कि स्वावलम्बी शब्द का अर्थ क्या है और वह हमारी शिक्षा योजना का मुख्य अंग क्यों है।

स्वावलम्बन की कसौटी—

इस तरह की तालीम के पूरे हिस्से पर गौर किया जाय तो वह स्वावलम्बी जरूर हो सकती है और जरूर होना भी चाहिए। दर असल उसका स्वावलम्बीपन उसकी वास्तविकता की बड़ी कसौटी है। उसके स्वावलम्बीपन का तालीमी और नैतिक मूल्य, उसकी अधिक से अधिक आर्थिक पैदावार की अपेक्षा से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण है।

अन्त में हमें यह देखना होगा कि गांधीजी के मनुष्य जीवन के समूचे तत्वज्ञान और अहिंसा के साथ इस शिक्षा-योजना का सम्बन्ध किस तरह है। स्वावलम्बी शिक्षा की भावना अहिंसा की मनोभूमि से अलग नहीं की जा सकती। जब तक हम यह याद नहीं रखते कि इस नयी योजना का उद्देश्य एक ऐसा जमाना पैदा करना है, जिसमें जाति-द्वेष और फिरके बन्दी का झगड़ा बिलकुल न रहने पाये और गरीबों अमीरों का भेद न हो, तब तक हम इस योजना को सफल नहीं बना सकते। गरज यह है कि हमें अहिंसा में विश्वास रख कर इस काम में लगना चाहिए और यह यकीन रखना चाहिए कि इस योजना की रचना एक ऐसे दिमाग ने की है, जो अहिंसा को तमाम बुराइयों की अचूक दवा समझता है।
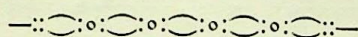
शुभ कामना

'बुनियादी शिक्षक' पत्रिका आज मुझे देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। बुनियादी के प्रसार-प्रचार एवं अध्यापकों तथा अभिभावकों को ध्यान में रखकर इस पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया है। देश के भावी भाग्य-विधाताओं के लिए बुनियादी शिक्षा के माध्यम से जो कुछ भी किया जाय, वह स्तुत्य एवं सराहनीय है। मुझे आशा है कि प्रकाशक महोदय अपने प्रयास में सफल होंगे और हमारे शास्त्रकारों की उक्ति—'सा विद्या या विमुक्तये' को पूर्ण-रूपेण चारितार्थ करेंगे।

—बैजनाथ कपूर

बच्चों के साथ बरताव
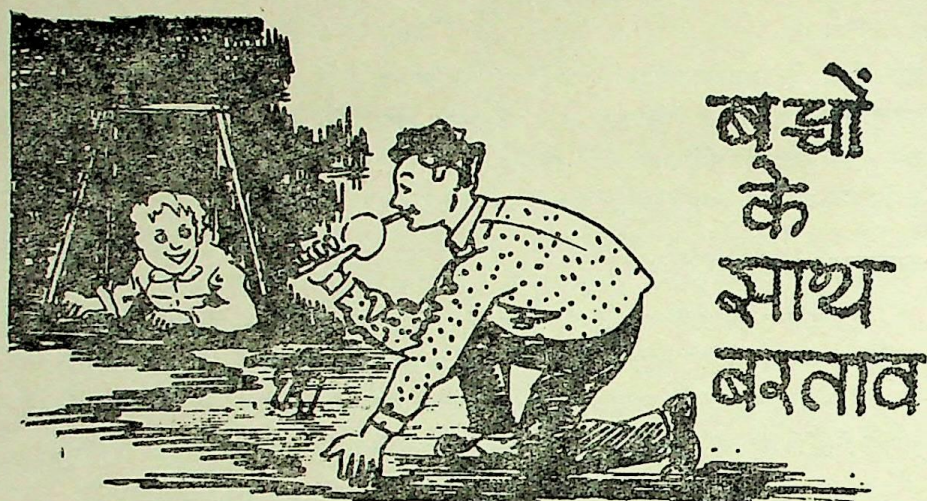
जुगतराम दवे

बच्चों के साथ हम कैसा बरताव करें, यह एक अत्यन्त महत्व की बात है। बच्चों को गोद में लेने, उछालने या अन्य कई प्रकार से उन्हें खिलाने की आदत बहुत लोगों में होती है। वे समय-समय पर उन्हें उछाल-उछाल कर चिपटा लेते हैं और उन्हें चूमते भी हैं। मेरा ख्याल है कि बच्चों को देख कर हमें जो भावावेश होता है उस पर अंकुश रखना चाहिए। बच्चे कोमल होते हैं, नाजुक होते हैं, छोटे और कमजोर होते हैं; इसलिए दौड़कर उन्हें उठाने और दबाने की इच्छा होना सच्चे और शुद्ध प्रेम का लक्षण कभी नहीं कहा जा सकता। बच्चे हमेशा हमारे ऐसे बरताव को नापसन्द करते जान पड़ते हैं।

छोटे बच्चे ऐसा बरताव नापसन्द करते हैं। इसका मुख्य कारण यह होता है कि इससे उनकी प्रवृत्तियों में व्यर्थ बाधा पड़ती है। कितने एकाग्र मन से वे किसी उच्चारण को सुनते हैं या अर्थ ढूंढते हैं। वे किसी वस्तु को उछाल कर और गिरा कर पहचानने की कोशिश करते हैं। उसमें हम अकारण बिना उनकी इच्छा जाने भूत की तरह आक्रमण करते हैं और उनकी इस पूर्ण प्रवृत्तियों में बाधा डालते हैं। उनकी नापसन्दगी जरा भी छिपी नहीं रहती। वे हमारी पकड़ से छूटने के लिए जी-तोड़ कोशिश करने लगते हैं। उसका विरोध करने लगते हैं और अन्त में रोने लगते हैं। जरा बड़े बच्चों को तो मान-अपमान का सूक्ष्म भेद भी समझ में आने लगता है। उनके मुँह-आँख आदि भावों से स्पष्ट दिखायी देता है कि उन्हें हमारे बरताव से अपमानित होने का भान भी होता है।

इतनी चेतावनी देने के बाद, संयम पर जोर देने के बाद मैं बालकों के स्वभाव का एक लक्षण बताना चाहता हूँ। उन्हें हमारी मदद की पग-पग पर जरूरत होती है। हमारी बड़ी दुनिया में बहुत कुछ ऐसा होना स्वाभाविक है, जिसे वे उठा नहीं सकते, लाँघ नहीं सकते और समझ नहीं सकते।

परन्तु याद रखिए कि जो प्रयत्न उनके बूते से बाहर के न हों उनमें झूठी दया करके उन्हें परिश्रम से बचाने के इरादे से उनकी मदद के लिए हरगिज दौड़ नहीं जाना चाहिए। ऐसी मेहनत में उन्हें जीवन का सच्चा आनन्द आता है। हमें अनावश्यक हस्तक्षेप करके उनकी विजय का महँगा आनन्द नष्ट कर डालना नहीं चाहिए। ठीक समय पर मौजूद हों तो प्रोत्साहन के शब्दों या हावभाव से उनका हौसला हम बढ़ायें। ऐसे प्रेम भरे प्रोत्साहन और कद्र के वे बहुत भूखे होते हैं और उनका भूखा होना कितना स्वाभाविक है। बिलकुल छोटे बच्चे अपने शिशु-घर में खम्भे जैसे साधनों को पकड़ कर महाप्रयत्न से खड़े हों, फिर भी हम अगर ताली बजा कर उन्हें बधाई न दें तो हम कितने उदासीन कहे जायेंगे। अगर वे एक चौकी पर चढ़ बैठें तो भी हम उन्हें प्रेम से गोद में न उठा लें और शाबाशी भर आलिंगन न करें तो हम कितने नीरस कहे जायेंगे। वे अपनी नकली गाय का झूठा दूध दुह कर हमें पिलाने आयें और हम उसे झूठ-मूठ पीकर उनके नाट्य का अन्तिम अंक खेल कर न बतायें तो बालकों का जी कितना खट्टा कर देंगे।

बालक कोई तीन वर्ष के उम्र के हों तब तक विजय के ऐसे प्रसंगों पर हम बड़ों को उन्हें अनेक प्रकार से प्रोत्साहन देना चाहिए। ताली बजा कर, पीठ थप-थपा कर, शाबाशी देनी चाहिए और उनकी प्रवृत्तियों में अत्यन्त ज्वलन्त विजय के प्रसंग देखें तब तो हमारा प्रेम इतना उमड़ना चाहिए कि गोद में लेकर उनका आलिंगन न करें तब तक उनकी पूरी कद्र करने का हमें सन्तोष ही न हो। बच्चों के प्रति हमारा व्यवहार हमेशा सभ्य, शिष्ट और दबा हुआ ही रहे. यह ठीक नहीं। कुछ प्रसंगों पर वे खिलखिला कर हँस पड़ते हैं, आकर हमसे चिपट जाते हैं और आशा रखते हैं कि हम भी उतनी उमंग के साथ उनका स्वागत करें।

परन्तु वे जरा बड़े हो जायँ और भिन्न-भिन्न प्रकार के कामों में दिलचस्पी लेने लगें तब हमारी उमंग और उत्साह यहीं रुकना नहीं चाहिए। तब यह भाव दूसरे ही ढंग से प्रकट होना चाहिए। अब हमें अलग-अलग कामों की खूबियाँ और कलाएँ उन्हें धीरज और प्रेम से सिखानी चाहिए। भिन्न-भिन्न वस्तुओं के गुण-धर्म और भाषा के भेद उनके सामने प्रेम से खोल कर दिखाना चाहिए। उनके टूटे-फूटे प्रश्नों को कभी हँस कर उड़ाना नहीं चाहिए; बल्कि प्रेम से उनके उत्तर देने चाहिए।

कई बार हम अधूरे और बनावटी जवाब देकर बच्चों को गड़बड़ घोटाले में डाल देते हैं। कभी-कभी हम कह देते हैं कि दातून किये बिना खाने से पाप लगता है और यह अपेक्षा रखते हैं कि यह बालक को श्रद्धालु बनाने का उपाय है। ऐसे संक्षिप्त स्पष्टीकरण हम इसीलिए देते हैं कि हमें विस्तार से उत्तर देने में रुचि नहीं होती; परन्तु बच्चे पर यदि हमारा भीतरी प्रेम उमड़ता हो तो उसे कोई भी बात सिखाने में हमें अरुचि क्यों होनी चाहिए। उलटे एक प्रकार का अलौकिक आनन्द होना चाहिए।

अंकों का परिचय
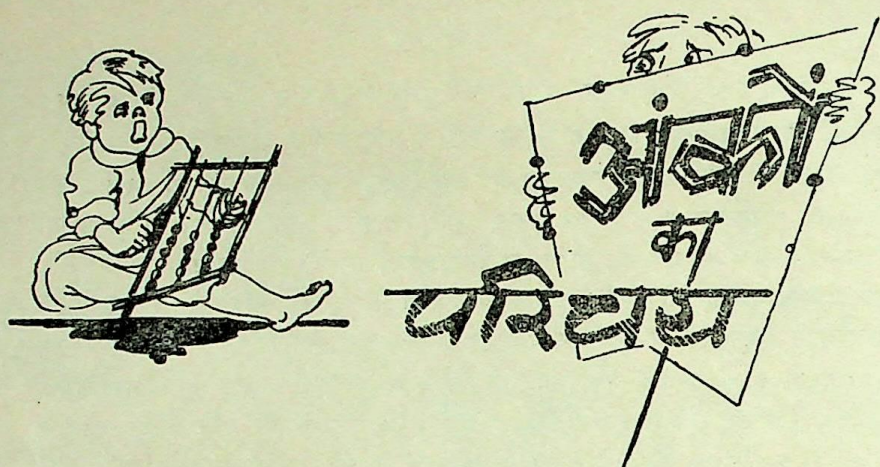
राधाकृष्ण

[श्री राधाकृष्ण जी सेवाग्राम के तालीमी संघ में लगातार कई वर्ष तक सफल शिक्षक रहे हैं। इस लेख में अपने अंक बोध से सम्बद्ध अपने अनुभवों का अनुपम शब्द चित्र प्रस्तुत किया है, जो शिक्षकों एवं अभिभावकों के लिए मार्गदर्शक सिद्ध होगा—सम्पादक]

स्कूल में प्रवेश करते समय हर एक बच्चे का अपना कुछ न कुछ अंक-बोध होता ही है। यह ज्यादातर घर की परिस्थिति पर निर्भर होता है। जब बच्चा घर में बड़ों को अंकों का उपयोग करता देखता है तो वह उनका अनुकरण करता है। अक्सर बच्चे के मन में इसका बहुत धुंधला चित्र रहता है और उस स्थिति में जबकि ये अंक उसके लिए कोई अर्थ नहीं रखते। कुछ बच्चे घर में थोड़ा पढ़ने के बाद स्कूल में आते हैं। अंकों को क्रमवार बोल सकते है। मान लीजिए—वे ५० या १०० तक गिनते हैं, लेकिन शायद ५ और ६, १० और १२ के बीच में कोई अन्तर नहीं समझ पाते हैं।

कुछ बच्चे क्रमवार गिन नहीं सकते हैं। वे चौथा डेस्क, पाँचवाँ टेबुल या छठा लड़का गिनते हैं; लेकिन ४, ५ या ६ का कोई मतलब नहीं समझते। कुछ बच्चे सिक्के पहचानते हैं—दस नये पैसे, बीस नये पैसे आदि; लेकिन उनका आपसी सम्बन्ध नहीं समझते हैं। वे सामान खरीदने में पैसे का उपयोग शायद जानते हैं; लेकिन उनका मूल्य नहीं समझते हैं। कुछ बच्चे दूर और नजदीक की बातें करते हैं, लेकिन फासले का माप नहीं जानते हैं। उन्होंने 'एक पाव दूध', 'एक पाउण्ड शक्कर' या 'एक सेर चावल' की बातें सुनी हैं; लेकिन यह नहीं जानते हैं कि ये माप एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। कुछ बच्चों ने यह सुना है कि अब चार बजे हैं, स्कूल आठ बजे शुरू हो जाता है आदि; लेकिन उन्हें घण्टों की पहचान नहीं है।

कुछ बच्चे तुलना कर सकते हैं। जैसे—पिताजी बड़े हैं, भाई छोटा है, मुझे कम दूध मिला है, ज्यादा दीजिए, हम जल्दी चलें, यह डण्डा सीधा है, बैल गोल-गोल घूमता है, देर हो जायेगी, मेरे पास बहुत सी किताबें हैं, सूरज दूर है इत्यादि। बच्चा इन शब्दों को अपने ही ढंग से समझता और उनका उपयोग करता है।

यह अंक-बोध या दूसरे शब्दों में यह प्राथमिक गणित की भाषा ही बच्चे के गणित सीखने की शुरुआत होती है। दैनिक जीवन का गणित इसी से शुरू होता है। सामान्य तौर पर बच्चा अंकों के बारे में अपने ही ढंग की एक समझ के साथ स्कूल में प्रवेश करता है। कभी-कभी उसके विचार बड़े मजेदार होते हैं। शिक्षक का पहला काम उसका ज्ञान जैसा है वैसा पहचानना और समझना है। यह कोई आसान काम नहीं है। प्रत्येक बालक विभिन्न घरेलू परिस्थिति से आया हुआ होता है और उनकी पृष्ठभूमि अलग-अलग होती है। उन्हें एक ही स्तर पर पहुँचाने की कल्पना अस्वाभाविक और अत्यन्त अशैक्षणिक होगी।

प्रत्येक बच्चे के विकास-क्रम की विभिन्नताओं को पहचानने और उसकी व्यक्तिगत आवश्यकताओं के उपयुक्त अध्यापन-पद्धति का प्रयोग करने की जरूरत पर ज्यादा जोर नहीं दिया जा सकता। यहाँ प्राय: देखने में आया है कि बच्चे के माता-पिता शिक्षक के लिए समस्या बन जाते हैं। अनुभवहीन अभिभावकों के मुँह से अनेक बार सुना गया है—'मेरे पड़ोसी का लड़का चार ही साल का है, फिर भी वह जोड़-घटाना लगा लेता है, एक दूसरा पाँच साल का, भाग लगाना भी जानता है; लेकिन मेरा बच्चा ६ साल का होने के बावजूद ठीक तरह से गिनना भी नहीं जानता!"

कभी-कभी शिक्षक भी बड़े आत्मगौरव के साथ कहते सुने गये हैं—"मेरी कक्षा के सभी बच्चे सात साल से कम उम्र के हैं, फिर भी बड़े-बड़े भाग के प्रश्न आसानी से कर लेते हैं।" ऐसी दशा में हमें स्वीकार करना होगा कि शिक्षक भी बच्चों के विकास-क्रम और उनकी वैयक्तिक परिस्थितियों के अनुभवों को नजरअन्दाज कर जाते हैं।

बच्चों के मन में जो अंकबोध बन चके हैं उनको पहचानना शिक्षक का पहला कामं होगा। इसका मतलब यह नहीं कि वह इसके बारे में जानकारी हासिल करते फिरें। यह तो एक बढ़ती हुयी अवस्था है। शिक्षक का काम ऐसी परिस्थितियाँ तैयार करना है, जिनसे अंक-बोध विकसित हो। इस बात का पता शिक्षक को बच्चों के कहानी बताने, किसी अनुभव का वर्णन करने, खेल का संगठन करने या कवितापाठ करने से ही हो सकता है। आसान बात यह है कि जहाँ भी बच्चे का अनुभव बढ़ाने, उसको गणित की भाषा सीखने और ज्यादा अच्छी तरह समझने के लिए अनुकूल परिस्थिति उपलब्ध होती है उसका पूरा-पूरा उपयोग होना चाहिए। यह केवल शिक्षक का नहीं, माँ-बाप का भी काम है।

हमारे दैनिक जीवन में बच्चे गणित की भाषा का अनेक बार उपयोग करते हैं। ऐसे वास्तविक प्रसंगों में इस्तेमाल करने पर ये परोक्ष संज्ञायें बच्चों के लिए एक मतलब ले लेती

हैं। जब उनका बार-बार इस प्रकार उपयोग होता है तो बच्चे के मन में उसका अर्थ स्पष्ट होता जाता है और वह उन अंकों के उपयोग में पक्का होता जाता है। स्कूल के दैनिक कार्य-क्रम में असंख्य प्रसंग आते हैं। कुशल शिक्षक उन सबका पूरा-पूरा उपयोग कर लेता है।

मान लीजिए, बच्चे प्रार्थना के लिये बैठ रहे हैं—हम लोग कितने हैं, आसन कितने हैं, कितनी कतारें हैं, किस आकार में बैठना है इत्यादि। ऐसे ही अनेक सामयिक प्रश्नों के आधार पर कुशल अध्यापक अंक-बोध करता रहता है। इसी प्रकार बच्चों की शारीरिक स्वच्छता की जाँच के लिए उनकी कतार बनानी है, सफाई के काम में स्थान और साधनों के अनुसार बच्चों को टोलियों में बाँटना है, काम शुरू करने के पहले और बाद में औजारों को गिन कर रखना है, उद्योग के वर्ग का संगठन करना, साधनों को बाँटना और उत्पादन का हिसाब रखना है, जिनका शिक्षक अंक-बोध के लिए कुशलतापूर्वक उपयोग कर लेते हैं।

इसी प्रकार बागबानी, कताई कागज का काम या मूर्तिकला को ही ले लीजिए—इसमें पहले साधनों का उपयोग होता है, फिर कुछ न कुछ काम। इन दोनों का मूल्यांकन बच्चों के द्वारा ही होना चाहिए। जैसे - इतना साधन इस्तेमाल हुआ और इतना काम हुआ। बहुत छोटी उम्र में कविता, गाना, कहानियाँ और खेल-खेल में बड़े मजे के साथ अंक-बोध का अभ्यास कराया जा सकता है। बहुत सी ऐसी साधारण प्रवृत्तियाँ भी संगठित की जा सकती हैं, जिनसे बच्चों के मन में अंक की भाषा और उनका उपयोग स्पष्ट होता जायगा।

इनमें से कई काम तो बच्चे स्वयं करते ही रहते हैं, शिक्षक उसमें समय-समय पर मार्गदर्शन कर सकते हैं। इन परिस्थितियों का स्वाभाविक और उपयुक्त ढंग से अगर उपयोग किया जाता तो यह भावी गणित-शिक्षा की बुनियाद डाल देना होगा। बच्चे कल्पनाशील होते हैं। आपने उन्हें घूर-घरौंदा खेलते देखा होगा। आपने देखा होगा कि वे किस तरह अपनी कल्पना की नदी में वे अपने डण्डे और लकड़ियों से पुल का निर्माण करते हैं। वे प्रकृति की अमूल्य वस्तुओं का संग्रह भी करते हैं। रेलगाड़ी की चाल की नकल खेल-खेल में करते तो उन्हें अक्सर देखा जा सकता है। इन सारी प्रक्रियाओं के माध्यम से बच्चा घर या शाला में गणित के अंकों की और साधनों के परिमाण, वजन और आकारों के साथ परिचय कर रहा है। और ये अनुभव उसकी आगे की जिन्दगी में गणित के काम की बुनियाद के तौर पर अमूल्य होते है। ऐसी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देने और उनका उपयोग करने से शिक्षक और माँ-बाप बच्चे के गणित सीखने में आनन्द और वास्तविकता लाते हैं। इस तरह बच्चों के मन में अंकबोध विकसित होने से उनमें भविष्य में गणित सीखने की तैयारी होती है

इस तैयारी का यह अर्थ नहीं कि अब बच्चा जीवन में अंकबोध का अनुभव छोड़ कर गणित के केवल नियमित पाठ ही सीखें। तैयारी का अर्थ केवल इतना है कि अगली प्रक्रिया समझने के लिए उसकी मानसिक परिपक्कवता की पृष्ठभूमि-तैयार हो। जब बच्चा अंकों की समझ के साथ गिनती कर लेता है तो शायद वह वस्तुओं और अंकों का समुदायों में वर्गीकरण भी

कर सकेगा । ऐसे 'नमूना-पत्रक' तैयार कर सकते हैं, जिनमें बिन्दुओं द्वारा विभिन्न अंकों की संख्याएं और उनको अलग-अलग प्रकार से रखने की पद्धतियाँ दिखाई हों । बच्चे अभ्यास से यह पहचानने लगेंगे । शिक्षक ऐसे पत्रक भी बना सकते हैं, जिनमें एक ही संख्या अलग-अलग प्रकार से दिखाई गयी हो । इस तरह कई विभिन्न प्रकार के 'अंक-दर्शक-पत्र' बना लेना और उसके द्वारा वस्तुओं की संख्या और उनका प्रतीक समझना बहुत रुचिकर खेल हो सकता है ।

बच्चों की योग्यता के अनुसार व्यक्तिगत या सामूहिक खेल के रूप में इसका संगठन किया जाना चाहिए । यह वैयक्तिक या सामूहिक रूप में किसी प्रश्न का हल करने के अभ्यास की शुरुआत होती है । वस्तुओं के भिन्न-भिन्न समुदाय बनाने की पद्धति से बच्चा सरल जोड़ और और घटाना भी सीख लेता है । दस्तकारी के औजारों और तैयार की हुई वस्तुओं पर भी अंक-पत्र दिये जा सकते है ।

कुछ समय के वाद विद्यार्थी अंक-प्रतीक शब्द-पद्धति और वस्तुओं को तुलनात्मक रूप से दिखाने के लिए भित्ति-पत्रक तैयार करेंगे । इस पर खास ध्यान दिया जाना चाहिए कि बच्चे, अंकों को साफ-साफ और बड़ा लिखें । नहीं तो कई बार वे दो और तीन, तीन और ६ ६-और ९ में गड़बड़ कर लेते हैं । लिखने की पद्धति पर भी ध्यान देना आवश्यक है । श्यामपट या रेत पर बड़े-बड़े अंक लिखकर दिखाना अच्छा होगा ।

जरूरत के अनुसार बच्चों पर व्यक्तिगत ध्यान दिया जाना चाहिए । जो बच्चा जरा मन्दगति से चलता हो और जो तेजी से प्रगति कर रहा हो, दोनों को अलग-अलग उपयुक्त प्रश्न दिये जा सकते हैं । किसी को पीछे रखने या आगे ढकेलने की जरूरत नहीं है । स्कूल में बड़े बच्चे अंक-पत्रक तैयार करने में मदद कर सकते हैं । समय आने पर छोटे भी खुद अपने लिए तैयार कर लेते हैं । इस प्रकार की हुई सामग्री से और परिस्थितियों के समवाय पूर्वक उपयोग से बच्चों में अंकबोध का सही विकास किया जा सकता है ।

शून्य का यह प्रतीक बच्चों के लिए बड़ा रुचिकर होता है । इसका एक प्रतीक है । फिर भी मतलब होता है, जो खास स्थानों पर किसी अंक को बहुत बड़ा मूल्य देता है । कई बच्चे कोई काल्पनिक अंक लिखकर उसके सामने कई सारे शून्य लगा देने में विशेष आनन्द का अनुभव करते हैं ।

बच्चों को अंकबोध के साथ-साथ परिमाण, लम्बाई माप, वजन, समय और पैसे का भी ज्ञान करा देना चाहिए । दैनिक जीवन में इस्तेमाल की जाने वाली माप की इकाइयों का अंकों के साथ सम्बन्ध समझना चाहिए । उदाहरणार्थ अंक ७ का बच्चे के लिए कोई अर्थ नहीं है, जब तक वह सात वस्तुओं को एक साथ देखता नहीं है । अंकों का प्रत्यक्ष उपयोग तभी है कि वह वस्तुओं और माप की इकाइयों के साथ सम्बन्धित हो ।

बुनियादी शिक्षा और खेल-कूद
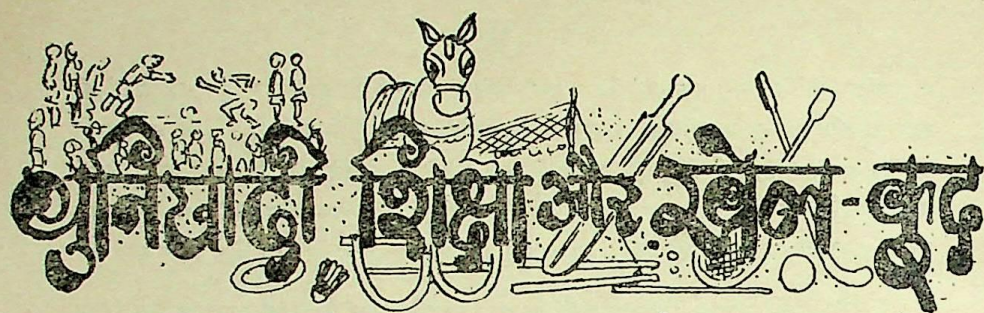
देवीप्रसाद

बुनियादी तालीम के एक उत्साही शिक्षक ने पत्र द्वारा एक प्रश्न पूछा है। वह इस प्रकार है—"खेल में मैं बहुत रुचि रखता हूँ। बालकों को बीच-बीच में खेल के लिए प्रोत्साहन भी देता रहता हूँ; लेकिन कभी-कभी मन में एक प्रश्न उठता है। वह यह है कि आज के जगत में खेल-कूद का जो स्वरूप है वह नयी तालीम में भी वही रहेगा या उसका स्वरूप किसी और ढंग का होगा ? कृपया इस पर विस्तार से समझाने का कष्ट करें।"

प्रश्न बड़े महत्व का है और नयी तालीम के कार्यकर्ताओं के सामने वह हमेशा उपस्थित रहता है। जब बच्चे फुटबाल, हाकी, वालीबाल इत्यादि की माँग करते हैं तो वह उन्हें या तो मिलता नहीं या फिर उसके पीछे की बुनियाद को न समझते हुए उन्हें खेल के लिए साधन दे दिये जाते हैं। साधारण जीवन में खेल-कूद का इतना बोलबाला है कि उस प्रश्न को अच्छी तरह न समझने से काम नहीं चलेगा। अनेकानेक शिक्षकों और विद्यार्थियों के मन में इसके बारे में बड़ा संकोच रहता है। उन्हें निरुत्साह होने के लिए भी मौका मिलता है। नयी तालीम के प्रति उदासीनता पैदा करने में यह भी एक कारण है। इसलिए यह जरूरी है कि नयी तालीम का काम करने वाले इस प्रश्न पर भी कुछ स्पष्टीकरण कर लें तो अच्छा होगा।

खेल-कूद का इतिहास बहुत पुराना है। रामायण और महाभारत काल में इसका खूब जिक्र है। कृष्ण का साथियों के संग गेंद खेलना और कुएँ में गेंद गिर जाने की कहानी यह बताने के लिए पर्याप्त है कि हमारे यहाँ पहले से ही खेल-कूद प्रचलित था। पोलो, जो घोड़े पर चढ़ कर खेला जाता है हिन्दुस्तान का ही खेल है। कहते हैं कि हाकी का प्रारम्भ भी हिन्दुस्तान में ही हुआ था। गुल्ली-डण्डा और कबड्डी तो ऐसा लगता है कि हजारों साल से हमारे बच्चे खेलते आए हैं।

'ग्रीस' में तो खेल-कूद शिक्षा का एक अनिवार्य विषय माना जाता है। 'प्लेटो' की शिक्षा-प्रणाली में व्यक्ति के लिए एक अवस्था में खेल-कूद का प्रमुख विषय माना गया है।

चाहे आज के जगत में खेल-कूद का स्वरूप कैसा भी क्यों न हों; किन्तु उसका इतिहास बहुत पुराना है, इस कठोर सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता।

आज आमतौर पर खेल-कूद का क्या स्वरूप हो गया है ? खेल-कूद के नाम पर स्पर्धा, पुरस्कार, कप और मेडल जीतने की लालसा और उन सबके कारण झगड़े, मारपीट प्रचुर मात्रा में होते रहते हैं। कभी कभी तो खून-खराबी की भी नौबत आ जाती है। क्या कृष्णलीला में कन्दुक-क्रीड़ा का वर्णन करने वाले ने या प्लेटो ने कभी यह कल्पना की थी कि खेल-कूद आखीर में जा कर मनुष्य-हृदय की स्पर्धा द्वेष और हिंसा को उकसाने वाली प्रवृत्ति हो जायगी ?

केवल इतना ही नहीं, आर्थिक और सामाजिक स्तर के हिसाब से खेल-कूद का भी स्तर बन गया है। मध्यम वर्ग वाले वालीबाल खेल सकते हैं। जो कुछ और खर्च कर सकते हैं वे क्रिकेट और बैडमिण्टन खेलते हैं। उसके ऊपर टैनिस और फिर तो गाल्फ और पोलो। हर खेल हर व्यक्ति को मिल सके, इसकी कोई गुंजाइश नहीं। आज यह स्थिति क्यों हो गयी है ? इसका कारण, हमें तो यह लगता है कि जब से श्रमिक वर्ग और श्रीमन्त वर्ग या बुद्धिजीवी वर्ग अलग-अलग हो गये तब से श्रीमन्त और बुद्धिजीवियों के शरीरश्रम और मनोरंजन के साधन खेल-कूद हो गये हैं।

श्रमिक बेचारा, जो दिन भर आठ घण्टे पसीना बहा चुका हो उसे फिर दो घण्टा पसीना बहाने की न तो शक्ति ही रहेगी, और न रुचि ही। शरीर से श्रम करना चाहिए, यह स्वास्थ्य-शास्त्र का एक अकाट्य नियम है। मन को मनोरंजन का साधन चाहिए, यह एक मनोविज्ञान का तथ्य है। जो लोग शरीरश्रम नहीं करते और उत्पादक शरीरश्रम को निम्न स्तर की चीज समझते हैं, उन्हें अपना स्वास्थ्य कायम रखने के लिए, मनोरंजन के लिए कुछ न कुछ इस तरह की प्रवृत्तियाँ अपनानी ही पड़ती हैं और फिर बौद्धिक और आर्थिक पहुँच के हिसाब से इन गेम्स और स्पोर्टस में बारीकी भी आती जाती है, जो सामान्य व्यक्ति की पहुँच के बाहर की होती जाती है।

क्रीड़ा क्षेत्र में एक और भयानक प्रकार का विकास हो गया है और उत्तरोत्तर होता जा रहा है। वह है जगह-जगह टूर्नामिण्ट का होना। उसमें २०—२२ लोग खेलते हैं और हजारों लोग केवल देखते हैं। इन देखने वालों में शायद एक प्रतिशत भी स्वयं खिलाड़ी नहीं होते। तो फिर वह व्यक्ति, जो स्वयं खेलते नहीं हो, खेलता जानता नहीं हो, इन खेलों के मैच इत्यादि में क्या रस लेता है। जो स्वयं खेलना नहीं जानता वह खेलने की बाजी को भी नहीं समझ सकता। मेरे विचार में तो यह आता है कि यह दर्शक-खेल का जो आनन्द है वह लेने के लिए नहीं; बल्कि उसके पीछे हार-जीत, स्पर्धा इत्यादि की, जो भावनाएँ उनके मन में निहित होती हैं उनकी तृप्ति के लिए वे टूर्नामिण्टस देखते हैं। और यही कारण है कि

टूर्नमिण्टस के बाद दर्शकों में ही मार-पीट शुरू हो जाती है । खेल कूद प्रदर्शन के लिए नहीं; बल्कि खेलने-कूदने के लिए होते हैं । हाँ,कभी-कभी प्रदर्शन भी उनका एक अंग हो सकता है ।

प्रश्न यह है कि इस विश्लेषण से परिणाम क्या निकलता है ? आज इस विषय में दो मत बन गए हैं । एक तो यह कि अगर आनन्दमय शरीरश्रम अपनी दिनचर्या में हुआ तो स्पोर्टस की केवल आवश्यकता खत्म ही नहीं हो जाती; बल्कि वह गलत चीज हो जाती है । दूसरा मत, जिसका जिक्र पहले किया जा चुका है कि बुद्धिजीवियों को शरीरश्रम और मनोरंजन के लिए खेल-कूद में हिस्सा लेना उनकी एक अनिवार्य आवश्यकता-सी होती जा रही है या बन गयी है जिससे उनकी दिनचर्या में सन्तुलन आ सके ।

इस दूसरे मत के बारे में तो स्पष्ट है कि उनकी बुनियाद वर्ग-भेद के ऊपर आधारित है। शरीर-श्रम और मनोरंजन चाहिए, इसलिए खेल-कूद को स्थान होना चाहिए इसका अर्थ क्या हुआ ? उनकी दिनचर्या में न तो शरीरश्रम है और न आनन्द सन्तुलित । दिनचर्या तो वह होगी, जिसमें हर तरह के शरीरश्रम को करने का मौका मिले और जो कुछ भी व्यक्ति करे, उसे आनन्द लाभ हो । यह तभी हो सकता है जब श्रमजीवी और बुद्धिजीवी ये दो वर्ग-भेद मिट जायँ । अगरउस व्यक्ति को, जो अधिक बौद्धिक काम करता है, श्रम की आवश्यकता है तो उसे कोई ऐसा श्रम करना चाहिए जिसके द्वारा वह व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन इन दोनों का पूरा विकास कर सके । वह शरीरश्रम उत्पादक और सृजनात्मक होना चाहिए । जब हम एक ऐसे समाज की कल्पना करते हैं, जिसमें भेदभाव न हो, सामाजिक एकता हो तो हमारे मन में खेल-कूद का स्वरूप कुछ अलग ही हो जाता है ।

पहला मत, जिसमें स्पोर्टस को बेकार माना गया है, हमारे विचार में वह भी एकतरफा दीखता है । आदमी के व्यक्तित्व में कुछ ऐसी सूक्ष्म वृत्तियाँ और भावनाएँ होती हैं, जिनका 'विकास' या 'अविकास' विशेष प्रवृत्तियों द्वारा ही हो सकता है । जिस तरह संगीत का स्थान चित्रकला नहीं ले सकती उसी तरह खेल-कूद का स्थान उत्पादक प्रवृत्तियाँ हैं, जिसके द्वारा शरीर का सम्पूर्ण विकास नहीं हो पाता । मानसिक वृत्तियों में भी कई ऐसी वृत्तियाँ हैं, जिनका 'सब्लिमेशन' अचेत मानस में ही हो सकता है । मानसिक और शारीरिक स्फूर्ति के विकास के लिए भी सभी उत्पादक उद्योग यथेष्ट हो सकती है, यह भी नहीं कहा जा सकता ।

कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य के जीवन में इतनी बारीकियाँ होती हैं कि उनको उचित स्थान देना है तो तरह-तरह की प्रवृत्तियों द्वारा ही दिया जा सकता है । आदमी जो कुछ करता है, उसका अर्थ कुछ तो होता ही है; लेकिन उसके कितने ही काम ऐसे होते हैं, जिनका सीधा-सीधा अर्थ बताया नहीं जा सकता । उदाहरण के लिए कला-प्रवृत्तियों को ही लें । राग-रागिनी गाने का आखिर क्या अर्थ है ? क्या उससे भौतिक जीवन में कुछ लाभ होता है ? उससे तो जैसा कि माना गया है एक अपूर्व आनन्द-लाभ की अनुभूति होती है ।

इसी तरह खेल-कूद भी अगर ठीक दृष्टि के साथ जीवन में रहें तो उनके द्वारा जीवन में एक ऐसे ही आनन्द का लाभ होगा, जो और किसी अन्य प्रवृत्ति के द्वारा नहीं हो सकता ।

हम तो यह कहना चाहते हैं कि आदमी कोई भी प्रवृत्ति करे, उससे लाभ तभी होगा जब कि उस प्रवृत्ति के पीछे सृजनात्मक भावना को स्थान हो । खेत में अनाज पैदा करने में आदमी को आनन्द मिलेगा ही । यह मान लेना वास्तविकता को न समझना ही होगा । खेती भी तभी आनन्द का स्रोत हो सकती है, जब कि उसके पीछे अर्थ-लाभ की दृष्टि न रखकर सृजनात्मकता का शुद्ध आनन्द-लाभ हो । खेल-कूद के बारे में भी यही बात लागू होती है । अगर खेल-कूद स्पर्धा और केवल शरीर श्रम के लिए किए जायंगे तो उनसे विशुद्ध आनन्द नहीं मिल सकता । खेल-कूद के पीछे भी सृजनात्मकता की दृष्टि होनी ही चाहिए यानी खेल-कूद एक कला-प्रवृत्ति के रूप में किया जाना चाहिए ।

स्पोर्टस, कला-प्रवृत्ति मूलक कैसे हो सकते हैं, यह एक अलग विषय है । यहां विस्तार से उसकी चर्चा करना जरूरी नहीं; किन्तु उसका थोड़ा आभास देना अच्छा होगा । जिस तरह नृत्य एक कला-प्रवृत्ति है यानी नृत्य का चाहे एक हो या टोली में एक साथ कई हों, मंच पर आ कर कुछ चाक्षुश पेटर्न-आकारों का निर्माण करते हैं वैसे ही खेल की प्रवृत्ति भी ऐसी लावण्यमयी होनी चाहिए कि उससे खेलने वाले को और देखने वाले को भी नृत्य की ही तरह कुछ 'पैटर्न' का दर्शन हो । इसमें 'हारमोनी' आती है । हिलने-डुलने के तरीके लावण्यमय होते हैं तो खिलाड़ी अच्छा माना जाता है । जब तक खेल-कूद के पीछे कलात्मकता की दृष्टि नही होती तब तक खेल-कूद शुद्ध नहीं हो सकते हैं और न तो उनके द्वारा उस चीज को ही पाया जा सकता है, जिसके लिए खेल-कूद का निर्माण हुआ है ।

इसमें कोई शंका नहीं कि ये खेल-कूद समाज में रखने ही वाले है और इसमें भी कोई शंका नहीं कि ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते जायेंगे हमारे खेल-कूद आदि में भी बारीकियाँ अधिक से अधिक बढ़ती जायँगी । खेल-कूद का स्थान आधुनिक शिक्षा में इस कारण भी रखा गया है कि उसके द्वारा सामाजिक वृत्ति को टोली में काम करने का, जिसे 'टीम वर्क' कहते हैं, निर्माण होता है । यह बात बड़ी बुनियादी है । ज्यों-ज्यों मनुष्य विकास करता जा रहा है, त्यों-त्यों सामूहिक दृष्टि का महत्व बढ़ता जा रहा है इसलिए उस वृत्ति का विकास करना अत्यन्त महत्व रखता है । कुछ लोगों का यह ख्याल है कि साथ काम करने की वत्ति सामूहिक ढंग से उत्पादक श्रम करने से पैदा होगी । उसके लिए 'नकली' प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं ।

बात कुछ हद तक ठीक हो सकती है; किन्तु क्या यह सच नहीं है कि उत्पादक काम करने के पीछे कुछ न कुछ स्वार्थ रहता ही है और उसके कारण अनिवार्यता, सामूहिक ढंग से काम करने की हो ही जाती है ? वहाँ सामूहिक ढंग से काम करने में आर्थिक लाभ हैं; इसलिए सामुदायिकता का विकास होता है; पर सामुदायिकता की वृत्ति को अगर और भी

सूक्ष्म बनाना है तो उसका विकास किसी ऐसे क्षेत्र में करना पड़ेगा, जहाँ कोई तात्कालिक स्वार्थ न हो। सामुदायिक कला-प्रवृत्तियाँ जैसे सामूहिक संगीत, सामूहिक नृत्य, सामूहिक खेल-कूद, इत्यादि, इस तरह साथ रह कर एक ढंग से काम करने की वृत्ति का अति सूक्ष्म ढंग से विकास कर सकते हैं। जिस तरह हमेशा १६ नम्बर का सूत कातने के लिये ४०-५० नम्बर तक का अभ्यास करना पड़ता है, उसी तरह सामुदायिकता का विकास करने के लिए अधिक से अधिक सूक्ष्मता के साथ अभ्यास करना पड़ेगा। खेल-कूद आदि प्रवृत्तियाँ भी इसी पहलू का विकास करने में मदद कर सकती हैं।

यह तो रही सैद्धान्तिक बात यानी हमारी राय में, खेल-कूद तालीम में महत्वपूर्ण स्थान रहते हैं। इसमें कोई शंका नहीं है; पर एक व्यावहारिक बात सामने उपस्थित है। वह है—खर्चे की बात। क्या लाखों बुनियादी विद्यालयों में टेनिस कोर्ट, हाकी फील्ड, क्रिकेट बैट [बल्ले] दिये जा सकते हैं? जहाँ आज बच्चों को एक समय थोड़ा दूध देना भी मुश्किल हो जाता है वहां खेल के इन साधनों पर कितना खर्च किया जा सकेगा, यह स्वयं ही देखें। यही कारण है कि बुनियादी तालीम से ही कहा जा रहा है कि ऐसे खेल-कूद अपनाये जायं, जो बिना विशेष साधनों के नान-ऐक्विपमेण्ट खेले जा सकें।

एक छोटा-सा आँकड़ा ही लें। वालीबाल, जो सब से सस्ता खेल माना जाता है, को लें तो कितना खर्च देश को उसके ऊपर करना पड़ेगा। केवल बेसिक स्कूल एक लाख तो होंगे और एक स्कूल में कम से कम भी अगर खर्च किया जाय तो साल में ५० रुपया वालीबाल के लिए खर्च करना पड़ेगा तो पचास लाख रुपया केवल उसी के लिए होगा। न जाने इतना पैसा आज हम खर्च कर सकते हैं या नहीं। हम यहाँ यह नहीं कहना चाहते कि आज इतना खर्च करना है या नहीं करना है; बल्कि एक दृष्टि से यह रखना चाहते हैं कि खेल-कूद के खर्चे का स्टेण्डर्ड हमारे उत्पादन के स्टेण्डर्ड के साथ-साथ चलना चाहिए। ज्यों-ज्यों हमारी उत्पादन-शक्ति बढ़ती रहेगी और ज्यों-ज्यों हमारी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहेगी त्यों-त्यों अधिक खर्च हम खेल-कूद आदि विषयों पर कर सकेंगे। इसी दृष्टि से खेल-कूद की योजना बनायें तो इसमें कोई शंका नहीं कि खर्चीले 'ऐक्विपमेण्ट का आज की परिस्थिति में स्थान नहीं है।

असल बात यह है कि अगर बुनियादी तालीम में काम करने वाले प्राण-मन से अपने काम में जुट जायें और साथ-साथ अपनी दृष्टि में समग्रता लाते जायें तो कितने ही ऐसे नये खेल-कूदों की ईजाद होती जायगी, जिनके अधिक ऐक्विपमेण्ट के न होते हुए भी खेल-कूद के, जो बुनियादी उद्देश्य हैं, उनकी पूर्ति होगी। यह एक टेकनिकल विषय है। इसमें मौलिक शोध करने वालों की आवश्यकता है। वर्तमान समाज की चीजों की नकल करने वालों की नहीं।
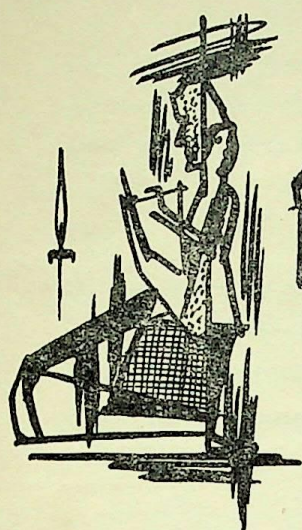
शिक्षक की मानसिक तैयारी

श्री माताजी

[अरविन्दाश्रम की माताजी को कौन नहीं जानता । इस संक्षिप्त लेख में माताजी ने "शिक्षक की मानसिक तैयारी" का आध्यात्मिक भावभूमि पर विवेचन किया है और रामायण-महाभारत कालीन गुरु परम्परा का अव्यक्त पोषण । शिक्षक मात्र शिक्षक नहीं, गुरु है, जगतगुरु है, जिसकी अपनी मानसिक तैयारी एक महान् किन्तु अनिवार्य साधना है । —सम्पादक]

शिक्षा की पूर्णता के लिए उसमें पाँच प्रधान पहलू होने चाहिए । इनका सम्बन्ध मनुष्य की पाँच प्रधान क्रियाओं से होगा—भौतिक, प्राणिक, मानसिक, आन्तरात्मिक और आध्यात्मिक । साधारणतया शिक्षा के ये सब पहलू व्यक्ति के विकास के अनुसार एक के बाद एक काल-क्रम से आरम्भ होते हैं; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि एक पहलू दूसरे का स्थान ले ले; बल्कि सभी पहलुओं को जीवन के अन्तकाल तक परस्पर एक दूसरे को पूर्ण बनाते हुए जारी रखना चाहिए ।

शरीर की शिक्षा—

शरीर की समस्त शिक्षा एकदम जन्म के साथ ही आरम्भ हो जानी चाहिए और सारे जीवन भर चलती रहनी चाहिए । उसके विषय में ऐसा कभी नहीं कहा जा सकता कि उसका आरम्भ बहुत जल्दी हो रहा है अथवा वह बहुत देर तक चल रही है ।

शरीर की शिक्षा के तीन प्रधान रूप हैं—पहला, शारीरिक क्रियाओं को संयमित और नियमित करना । दूसरा, शरीर के सभी अंगों और क्रियाओं का सर्वांगपूर्ण प्रणालीबद्ध और सामंजस्यपूर्ण विकास करना और तीसरा, अगर शरीर में कोई दोष या विकृति हो तो उसे सुधारना ।

अगर बच्चा अपने जीवन के प्रारम्भ से ही अच्छी आदतें डाल ले तो वह अपने जीवन भर बहुत सी तकलीफों और असुविधाओं से बचा रहेगा। साथ ही उसके जीवन के आरम्भिक वर्षों में उसकी देखभाल का भार जिन लोगों पर होगा उनका काम भी बहुत अधिक आसान हो जायगा।

प्राण की शिक्षा--

सब प्रकार की शिक्षाओं में सम्भवतः प्राण की शिक्षा सबसे अधिक महत्वपूर्ण और सबसे अधिक आवश्यक है। फिर भी इसका ज्ञानपूर्वक तथा विधिवत आरम्भ और अनुसरण बहुत कम लोग करते हैं। जिसके कई कारण हैं। सबमे पहले इस विशेष विषय का जिन बातों से सम्बन्ध है उनके स्वरूप के विषय में मानव बुद्धि की कोई सुस्पष्ट धारणा नहीं है। दूसरे, यह कार्य बहुत ही कठिन है और इसमें सफलता प्राप्त करने के लिए हमारे अन्दर सहनशीलता, अनन्त अध्यवसाय और सुदृढ़ संकल्प होना आवश्यक है।

प्राण की शिक्षा के दो प्रधान रूप हैं। वे दोनों ही लक्ष्य और पद्धति की दृष्टि से एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं; पर हैं दोनों ही एक समान महत्वपूर्ण। पहला इन्द्रियों का विकास और उनके उपयोग से सम्बन्ध रखता है और दूसरा है अपने चरित्र के विषय में सचेत होना। धीरे-धीरे उस पर प्रभुत्व स्थापित कर अन्त में उसका रूपान्तर करना।

फिर इन्द्रियों की शिक्षा के भी कई रूप हैं। जैसे-जैसे शक्ति वर्धित होती है वैसे-वैसे वे रूप एक दूसरे के साथ जुड़ते चले जाते हैं। निश्चय ही यह शिक्षा कभी भी बन्द नहीं होनी चाहिए। इन्द्रियों को इस प्रकार सुशिक्षित किया जा सकता है कि वे अपनी क्रिया में साधारणतया उनसे जैसी आशा की जाती है उससे अधिक निर्दोषता और शक्ति प्राप्त कर सकें।

इन्द्रियों और उनके व्यवहार की सामान्य शिक्षा के साथ ही यथाशीघ्र विवेक और सौन्दर्यबोध--अर्थात् जो कुछ सुन्दर और सामंजस्यपूर्ण है; सरल, स्वस्थ और शुद्ध है, उसे चुन लेने और ग्रहण कर लेने की क्षमता के विकास की शिक्षा भी देनी होगी। क्योंकि शारीरिक स्वास्थ्य के समान ही मानसिक स्वास्थ्य भी होता है। जिस तरह शरीर और उसकी गतियों का एक सौन्दर्य है उसी तरह इन्द्रियानुभवों का भी एक सौन्दर्य और सामंजस्य है। जैसे-जैसे बच्चे की सामर्थ्य और समझ बढ़े, वैसे-वैसे उसे अध्ययन काल में ही यह सिखाना चाहिए कि वह शक्ति और यथार्थता के साथ सौन्दर्य विषयक सुरुचि और सूक्ष्म वृत्ति का भी विकास करे। उसे सुन्दर, उच्च, स्वस्थ और महत् चीजें चाहे वे प्रकृति में हों या मानव सृष्टि में दिखानी होंगी। उन्हें पसन्द करना और उनसे प्रेम करना सिखाना होगा। वह एक सच्चा सौन्दर्यनुशीलन होना चाहिए और वह पतनोन्मुखी स्वभाव से उसकी रक्षा करेगा।

साररूप में कह सकते हैं कि हमें अपने स्वभाव का पूरा ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और फिर अपनी क्रियाओं पर ऐसा संयम प्राप्त करना चाहिए कि हमें पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त हो जाय और जिन चीजों को रूपान्तरित करना है, उनका रूपान्तर साधित हो जाय।

मन की शिक्षा—

मन की सच्ची शिक्षा के, उस शिक्षा के, जो मनुष्य को एक उच्चतर जीवन के लिए तैयार करेगी, पाँच प्रधान अंग हैं। साधारणतया ये अंग एक के बाद एक आते हैं; पर विशेष-विशेष व्यक्तियों में बदल-बदल कर या एक साथ भी आ सकते हैं। ये पांचों अंग संक्षेप में इस प्रकार हैं—

१—एकाग्रता की शक्ति का, सजग होने की क्षमता का विकसित करना।

२—मन को व्यापक, विशाल, बहुविध और समृद्ध बनाने की क्षमताएँ विकास करना।

३—जो केन्द्रीय विचार या उच्चतर आदर्श या परमोज्वल भावना जीवन में पथ-प्रदर्शक का काम करेगी, इसे केन्द्र बनाकर समस्त विचारों को सुसंगठित और सुव्यवस्थित करना।

४—विचारों को संयमित करना, अनिष्ट विचारों का त्याग करना, जिससे मनुष्य अन्त में, जो कुछ चाहे वही और जब चाहे तभी विचार कर सके।

५—मानसिक निश्चलता का, परिपूर्ण शान्ति का और सत्ता के उच्चतर क्षेत्रों से आनेवाली अन्त:प्रेरणाओं को अधिकाधिक पूर्णता के साथ ग्रहण करने की क्षमता का विकसित करना।

अब तक हमारा विषय वह शिक्षा रही, जो संसार में जन्म लेनेवाले प्रत्येक बच्चे को दी जा सकती है और जो केवल मानवीय क्षमताओं से ही सम्बन्ध रखती है; परन्तु हमें अनिवार्य रूप में वहीं रुक जाने की आवश्यकता नहीं। सभी मानव के अन्दर छिपी हुई एक महत्तर चेतना की सम्भावना मौजूद है, जो उनके सामान्य जीवन की सीमा से बड़ी है और जिसकी सहायता से वे एक उच्चतर और अधिक व्यापक जीवन में भाग लेने के अधिकारी बन सकते हैं।

वाह्य वस्तुओं पर ध्यान केन्द्रित करना बहुत लाभदायक तो है, पर यह कार्य उचित ढंग से करना चाहिए। ये तीन प्रकार की शिक्षाएँ व्यक्ति का निर्माण करने, मनुष्य को अस्पष्ट और अचेतन जड़ता से उबारने तथा उसे एक सुनिश्चित और आत्मसचेतन सत्ता बनाने के साधन हैं। अन्तरात्मा की शिक्षा के द्वारा हम एक जीवन के सच्चे आशय, पृथ्वी पर अपने अस्तित्व के कारण तथा जीवन की खोज के लक्ष्य और उनके परिणाम, अपनी नित्य सत्ता के प्रति व्यक्ति के आत्मसमर्पण के प्रश्न पर आते हैं। इस खोज का सम्बन्ध साधारणतया एक गुह्य भाव और मार्मिक जीवन से है; क्योंकि विशेष रूप से धर्म मत ही जीवन के इस पहलू में व्यस्त रहे हैं; पर ऐसा होना आवश्यक नहीं। ईश्वर-विषयक गुह्य विचार के स्थान पर सत्य का अधिक दार्शनिक विचार आ सकता है; पर फिर यह खोज सार रूप में वही रहेगी। केवल उसके पास तक पहुँचने का मार्ग ऐसा हो जायगा कि अत्यधिक आग्रहशील प्रत्यक्षवादी भी इसको अपना सकेगा; क्योंकि आन्तरात्मिक जीवन की तैयारी के लिए मानसिक विचारों और धारणाओं का अधिक महत्व नहीं है।

आन्तरिक उपस्थिति के द्वारा ही व्यक्ति का सच्चा अस्तित्व व्यक्ति तथा उसकी जीवन-परिस्थितियों से सम्पर्क प्राप्त करता है। यह कहा जा सकता है कि अधिकांश व्यक्तियों में यह उपस्थिति अज्ञात और अपरिचित रूप में परदे के पीछे से कार्य करती है; पर कुछ में यह अनुभवगोचर होती है तथा इसकी क्रिया को भी पहचाना जा सकता है। बिरले लोगों में यह उपस्थिति प्रत्यक्ष रूप में प्रकट होती है और इन्हीं में इसकी क्रिया भी अधिक प्रभावशाली होती है। ऐसे लोग ही एक विशेष विश्वास और निश्चय के साथ जीवन में आगे बढ़ते हैं। ये ही अपने भाग्य के स्वामी होते हैं।

सब कार्य प्रसन्नता से करने का यत्न करो, परन्तु प्रसन्नता कभी तुम्हारे कार्य का प्रेरक भाव न बनने पाये।

कभी उत्तेजित, उद्विग्न या विक्षुब्ध न बनो। सभी अवस्थाओं में पूर्णरूप से शान्त से बने रहो। फिर भी सदा सजग रहो, जिससे ज. उन्नति तुम्हें करनी है उसे तुम जान सको तथा बिना समय नष्ट किए उसे प्राप्त कर सको।

भौतिक घटनाओं को उन के वाह्य रूप के आधार पर अंगीकार मत करो। ये सदा किसी अन्य वस्तु की, जो सत्य-वस्तु है, परन्तु जो हमारी तलीय बुद्धि की पकड़ में नहीं आती है, अशुद्ध अभिव्यक्ति होती है।

किसी के व्यवहार के प्रति शिकायत मत करो, जब तक तुम्हारे अन्दर उसके स्वभाव की उस चीज को बदलने की शक्ति ही न हो, जो उसे वैसा करने के लिए प्रेरित करती है। अगर तुम्हारे पास वह शक्ति है तो शिकायत करने के स्थान पर उसको बदल दो।

आध्यात्मिक शिक्षा में मनुष्य का स्वीकृत लक्ष्य उसके वातावरण, विकास तथा स्वभाव की रुचियों के सम्बन्ध से मानसिक निरूपण में भिन्न-भिन्न नाम धारण कर लेगा। धार्मिक वृत्ति वाले उसे ईश्वर कहेंगे और उनका आध्यात्मिक प्रयत्न फिर इस रूपातीत परमात्मा ईश्वर के साथ तादात्म्य प्राप्त करने के लिए होगा, न कि उस ईश्वर के साथ जो वर्तमान सब रूपों में है। कुछ लोग इसे परब्रह्म या सर्वोच्च आदि कारण कहेंगे और कुछ निर्वाण, कुछ और जो संसार को तथ्यहीन भ्रम समझते हैं, इसे "एकं अद्वित्तीयम् सत्" का नाम देंगे। जो लोग अभिव्यक्तिमात्र को असत्य मानते हैं उनके लिए यह एकमात्र सत्य होगा।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अतिमानस शिक्षण के फलस्वरूप केवल मानव प्रकृति का उत्तरोत्तर विकास ही नहीं होगा और न केवल इसकी सुप्त शक्तियाँ ही दिन-दिन बढ़ती जायंगी, बल्कि प्रकृति का अपना और साथ ही साथ सम्पूर्ण सत्ता का ही रूपान्तर हो जायगा। प्राणियों की एक योनि का नया आरोहण होगा। मानव से ऊपर, अतिमानव की ओर जिससे अन्त में पृथ्वी पर दिव्य जाति का आविर्भाव होगा।
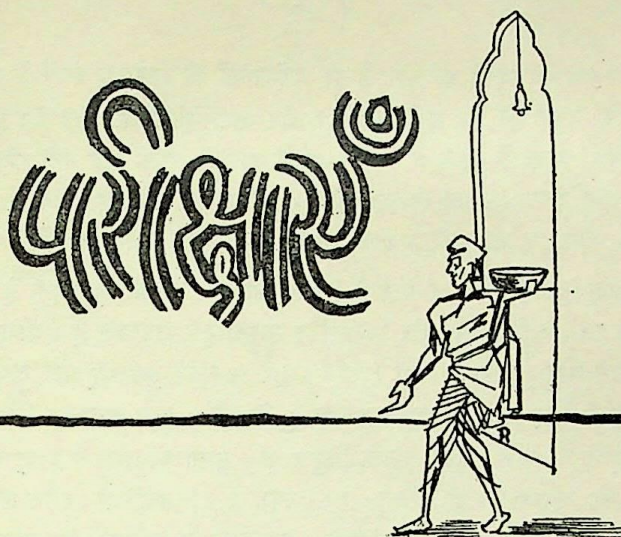
मार्जेरी साइक्स

हर साल परीक्षाओं का महीना आता है। स्कूल का साल खत्म होता है और सब जगह बच्चे और माँ-बाप पास होने की, सार्टिफिकेट की और अगले दर्जे में प्रवेश पाने की ही बातें करते पाये जाते हैं। बुनियादी स्कूलों में भी अक्सर इसी उत्कंठा का वातावरण रहता है। बुनियादी शिक्षक प्रशिक्षण केन्द्रों में और कई स्कूलों में भी लिखित परीक्षाएँ होती हैं, जिसके नतीजों पर विद्यार्थियों का भविष्य बहुत हद तक निर्भर रहता है। हर साल शिक्षक इस अवस्था पर असन्तोष प्रकट करते हैं। कई प्रधानाध्यापक इस ऊहापोह में रहते हैं कि अमुक विद्यार्थी को, जिसे कि एक-दो अंक कम मिले हैं; लेकिन साल भर पढ़ाई में अच्छा रहा, पास करना चाहिए या नहीं।

हर साल कालेजों में अधिक ऊंचे नम्बर वालों को ही लेने का निश्चय होता है; क्योंकि जगहों की संख्याएँ मर्यादित होती हैं, फिर भी हर साल विश्वविद्यालयों की डिग्री परीक्षाओं में असफल होने वालों की संख्या बढ़ती जाती है और विश्वविद्यालयों के पुराने प्रमुख कहते रहते हैं कि इस कड़ी छानबीन की प्रक्रिया के बावजूद अयोग्य विद्यार्थियों को प्रवेश मिल रहा है, जिनका बौद्धिक स्तर इतना ऊंचा नहीं कि उन्हें उच्च शिक्षा से फायदा मिल सके। फिर प्रश्न उठता है कि करना क्या है ? कहा जाता है कि गुण निश्चयात्मक परीक्षाओं को हटा देने का नतीजा और भी अवांछनीय होगा।

शिक्षा विभाग के अधिकारी इस व्यवस्था की बुराइयों को जानते हैं, उस पर की गयी आलोचनाओं की सत्यता को मानते हैं, फिर भी उनका कहना है कि व्यवहार में यह दो

बुराइयों में से एक को चुनने का प्रश्न है तो परीक्षाओं की व्यवस्था इनमें से कम बुरी है। वे कहते हैं कि अगर हम इन परीक्षाओं को और सर्टीफिकेटों को छोड़ देते हैं तो काम के लिए उच्च शिक्षा केन्द्रों के प्रवेश के लिए स्पर्धा में कोई नियामक तत्व नहीं रहेगा, अधिकारों के दुरुपयोग और भ्रष्टाचार का स्वच्छन्द विहार होगा और इसलिए परीक्षाओं की व्यवस्था असन्तोषजनक होते हुए भी दूसरे विकल्प के अभाव में इसको चलाना ही होगा।

क्या यह दुख पूर्ण विचार सत्य है ? इस लेख का उद्देश्य यह कहना है कि नहीं यह सच नहीं है। इससे कहीं अच्छा और व्यवहारिक रास्ता हमें उपलब्ध है। आज समय आया है कि राष्ट्र उसे आग्रह पूर्वक अपनाए। आज हमारे राष्ट्रीय स्वास्थ्य और राष्ट्र निर्माण के सारे कार्यक्रम के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि हरेक काम में उसके लिए योग्य तथा स्वभाव एवं वृत्ति से उसके अनुरूप व्यक्ति नियुक्त हों। गलत व्यवस्था से राष्ट्र की लोकशक्ति और सम्पत्ति का अपव्यय न हो। जिस किसी काम में, जिसकी भी विशेष अभिरुचि और दक्षता हो उसे वह काम करने का मौका मिले। इस दृष्टि से समीक्षा और चुनाव की अधिक अच्छी और सूक्ष्म पद्धति लागू की जा सकती है।

यह कहना ठीक है कि बुनियादी तालीम में समीक्षा की प्रणाली उस शिक्षा के उद्देश्य और पद्धतियों के अनुरूप होनी चाहिए; लेकिन उतना मात्र पर्याप्त नहीं है। आज की परीक्षाओं की व्यवस्था के पीछे जो बुनियादी मान्यताएं हैं, उनका असर सारे राष्ट्रीय जीवन पर पड़ता है। किसी व्यक्ति की स्वाभाविक वृत्तियों व योग्यताओं की जाँच करने के पीछे जो विचार हैं, उन्हीं में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। आखिर परीक्षाएँ किस लिए हैं ?

हमारी मूलभूत गलती यह है कि हमने अपने सार्वजनिक परीक्षा व्यवस्था—पब्लिक ऐग्जामिनेशन सिस्टम-में व्यक्ति की स्वाभाविक वृत्ति और अभिरुचि और उसकी पढ़ाई के द्वारा प्राप्त योग्यता में अन्तर नहीं किया है। हम मानते हैं कि किसी ने स्कूल का पाठ्यक्रम पूरा करने में अमुक योग्यता दिखायी, इतने साल उसने बिताए, इसलिए अवश्य ही वह उच्च विद्यालयों में अध्ययन के लिए, विभिन्न प्रकार की यान्त्रिक और प्राविधिक विधियों में प्रशिक्षण के लिए शासन-व्यवस्था के विविध अधिकृत पदों के लिए और भी कई तरह के विशिष्ट कार्यों के लिए योग्य होगा। यह मान्यता बिलकुल निराधार है। योग्यता शब्द का जो अर्थहीन उपयोग साधारण हो गया है वही इस का प्रमाण है। असल में उसका अर्थ होना चाहिए कि कोई भी व्यक्ति अपने चरित्र से, स्वभाव से और कुशलता से एक विशेष काम करने के लिए सर्वथा योग्य है; लेकिन अब उसका मतलब यह हो गया है कि उसके पास फलाँ सार्टीफिकेट है या उसने अमुक परीक्षा पास की है। इन दोनों बातों में बहुत अन्तर है।

दो व्यक्तिगत उदाहरण इस बात को स्पष्ट कर सकते हैं। लेखिका स्वयं स्कूल में पढ़ते समय गणित में अभिरुचि रखती थी और स्कूलों में जैसे साधारणतया होता है त्रिकोणों

और वृत्तों को खींच कर उनके 'नियमों को सिद्ध' करने में वैसे ही मजा अनुभव करती थी जैसे किसी खेल की हार-जीत में। स्वाभाविक ही था कि उसको स्कूल में गणित में अच्छे नम्बर मिलें; लेकिन थोड़े ही अनुभव से मालूम हुआ कि विश्वविद्यालय के गणित के परीक्षित, सिद्धान्तों को समझना उसकी मानसिक वृत्ति और शक्ति के बाहर था। शालेय गणित में अच्छे नम्बर मिलना, इस बात का निदर्शक नहीं है कि किसी की गणित में अच्छी वृत्ति है।

पच्चीस साल पहले जब कि बुनियादी तालीम का विचार ही नहीं हुआ था, लेखिका एक साधारण लड़कियों का स्कूल चलाती थी। आठवें दर्जे में १८ साल की एक लड़की थी, उसका नाम था कमला। वह अपनी कक्षा के लिए उम्र में ज्यादा बड़ी थी और पढ़ाई-लिखाई में कमजोर। गणित को समस्याएँ, व्याकरण और विदेशी भाषा की उलझनें कमला की शक्ति के बाहर थीं; लेकिन वह सीधी, सरल, विश्वासनीय और मेहनती थी। स्वभाव उसका मृदु और सहानुभूतिपूर्ण था और उसके कक्षा की छोटी लड़कियाँ उसे बड़ी बहन की तरह स्नेह और आदर से देखती थीं। वह अपने काम में और आदतों में भी साफ और नियमित थी। उसकी किताबें हमेशा सुन्दर ढंग से सजाकर रखी हुई मिलती थीं।

कमला की इच्छा थी नर्स बनने की। वह अपनी वृत्ति से इस काम के लिए विशेष रूप से उपयुक्त थी। फिर भी जब तक उसको आठवाँ दर्जा पास होने का सार्टिफिकेट न मिलता, वह किसी अस्पताल में प्रशिक्षण के लिए योग्य नहीं समझो जाती और पाठ्यक्रम में निर्धारित गणित, व्याकरण और अँग्रेजी में पास होना उसके लिए मुश्किल था। एक नर्स के काम के लिए इन विषयों का कोई विशेष प्रयोजन नहीं है। इस तरह की सैकड़ों कमलाओं की समस्याएँ हर साल शिक्षकों के सामने आती हैं।

अगर प्रधानाध्यापक कमला को आठवाँ दर्जा पास होने का सार्टिफिकेट नहीं देता तो वह उस काम में प्रवेश पाने से वंचित रह जाती, जिसके लिए वह सर्वथा योग्य थी और अगर वह सार्टिफिकेट दे देता तो सम्भव है कि उसके माँ-बाप कमला को उच्च विद्यालय में दाखिल कराने के लिए उसका उपयोग करते और कमला तो उसके लिए योग्य थी ही नहीं। ऐसी दुविधा-जनक परिस्थिति होनी ही नहीं चाहिए। जिनमें किसी उपयोगी काम में अभिरुचि और उसके लिए आवश्यक गुण हों तो उन्हें इस कारण से क्यों रोकें कि उनको कुछ ऐसे विषयों में पास होने का सार्टिफिकेट नहीं मिला, जिनका कि उस काम से कोई सम्बन्ध ही नहीं ?

इसी पीढ़ी की इंग्लैण्ड की एक लड़की से हम इसकी तुलना करें। विश्वविद्यालय में पढ़ते समय मेरी जान-पहचान 'मेरी' नाम की लड़की से थी। उसके पिता कोयले की खान में मजदूर थे। १४ साल की उम्र में वह स्कूल छोड़ कर किसी बड़े घर में नौकरानी का काम करके अपनी रोटी कमाने लगी। इंग्लैण्ड में १४ साल से छोटे बच्चे से काम कराना नियम के विरुद्ध है; लेकिन उसकी भी अभिलाषा नर्स बनने की थी। जैसे ही वह १८ साल

की हो गयी, जो कि नर्स के प्रशिक्षण के लिए निम्नतम उम्र है तो उसने अपना आवेदन पत्र भेज दिया और उसे एक अस्पताल में 'प्रोबेशन' पर ले लिया गया। उसके पास 'मेट्रिक' का कोई सार्टिफिकेट नहीं था न उसकी आवश्यकता ही। अपने काम में वह बहुत ही अच्छी साबित हुई और प्रशिक्षण पूरा करने के बाद वह बच्चों के एक अस्पताल में बड़ी जिम्मेदारी का काम सँभालने लगी।

अब वह बहुत कार्य-व्यस्त गृहिणी और माँ के रूप में भी कुछ समय अपने इष्ट-सेवा के काम में देती है। उस क्षेत्र में आधुनिकतम वैज्ञानिक प्रगतियों के साथ अपने आप को परिचित रखती है और कभी-कभी अल्पकालीन पुनः प्रशिक्षण शिविरों में भी शामिल होती है। कमला के समान ही उसको परिचारिका-काम में स्वाभाविक अभिरुचि और उसके लिए आवश्यक मानसिक गुण थे। कमला के जैसे ही उसको गणित और व्याकरण में कोई प्रवीणता न थी; लेकिन कमला के जैसे वह अपनी स्वाभाविक वृत्तियों का विकास करने से परिस्थितियों के कारण वंचित नहीं रह गयी। उन स्वाभाविक वृत्तियों के विकास के फल-स्वरूप वह एक सुशिक्षित और उपयोगी नागरिक बन गयी।

दूसरे क्षेत्रों में भी ऐसे ही वैपरीत्य पाये जाते हैं। हाल ही में प्रो०वी० एस० हालडेन ने एक अखबार में लिखा था कि वह किसी भारतीय विश्वविद्यालय में जीवशास्त्र के अध्यापन के लिए अयोग्य माने जायँगे; क्योंकि उन के पास इस विषय में कोई डिग्री नहीं है। जीवविज्ञान में उनकी गहरी अभिरुचि, लम्बा और नियमित अनुसन्धान व अध्ययन है, जिसके कारण वे प्रामाणिकता के साथ इस विषय पर बोलते व पढ़ाते हैं। यह सब उनकी सार्टिफिकेटहीनता के सामने निरुपयोगी हैं। क्या अब भी समय नहीं आया है कि इस तरह के उपहासास्पद नियमों को हटा दिया जाय ? एक शिक्षक को अपने विषय में तत्परता, एकाग्र ज्ञानसाधना और आत्मानुशासन की शक्ति के अलावा कौन-सी योग्यता चाहिए ?

हमारी पुरानी भारतीय परम्परा ने विद्वता के असली मूल्य को पहचाना था। यह मानी हुई बात थी कि ज्ञान अपने आप में ही प्रमाण है। उसके लिए किसी बाह्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं। कम से कम इस विषय में हमें अपनी राष्ट्रीय परम्परा को पुनः स्थापित करना चाहिए।

हमारे रूढ़िगत विचारों की भ्रमात्मकता को आजकल की एक और घटना स्पष्ट करती है। समाज-कल्याण मण्डल, सोशल वेलफ़ेअर बोर्ड—एक स्वतन्त्र संगठन है, जिसके ऊपर सरकारों के या विश्वविद्यालयों के कानूनों का बन्धन नहीं है। फिर भी उसने निश्चय किया है कि ग्राम-सेविका प्रशिक्षण के लिए निम्नतम योग्यता मेट्रिक पास है। इसका यह मतलब हुआ कि उन्होंने कलम के जोर से हजारों संस्कार-सम्पन्न, समझदार स्त्रियों को, जिन्हें ग्रामीण जीवन की जानकारी है और इसलिए सच्ची सेवा करने की काबलियत है, इस काम के लिए अयोग्य साबित किया और उन की जगह ऐसी प्रवेशार्थिनियों को लिया,

जिनकी योग्यता उस काम से कोई सम्बन्ध नहीं रखती है। मैं जानती हूँ कि मेट्रिक पास कई लड़कियाँ बहुत अच्छी ग्रामसेविकाएँ हुई हैं; लेकिन उनकी सफलता का कारण सार्टिफिकेट नहीं था।

अब करना क्या चाहिए ?

१—हर एक कालेज, अस्पताल, प्राविधिक स्कूल और ऐसी ही हर संस्था, जो विषय-विशेष या धन्धे का प्रशिक्षण देती है प्रवेशार्थियों की उस खास विषय के लिए उपयुक्त वृत्तियों और जानकारियों की जाँच अपने ही तरीके से करें। इसके लिए उपयुक्त पद्धतियाँ सोची जा सकती हैं। हाँ, यह जरूर है कि किसी मोटर इंजीनियरिंग के स्कूल में प्रवेशार्थियों की जाँच का तरीका किसी अस्पताल में प्रशिक्षण के लिए परिचारिकायों को चुनने के तरीके से बहुत भिन्न होगा।

कला केंद्रों में जहाँ हाथ और आँख की सूक्ष्मता की जरूरत है विद्यार्थियों को उन कुशलताओं के आधार पर नहीं चुनेंगे, जिन पर कि इतिहास और भाषा के गहरे अध्ययन के लिए उन की योग्यता की जाँच होगी। ये 'एडहाक परीक्षाएँ' उन सब के लिए खुली होंगी, जो भी उसमें शामिल होना चाहे और कोई भी इस कारण से रोका नहीं जायगा कि वह अमुक स्कूल के बदले अमुक स्कूल में पढ़ता था या अमुक सार्टिफिकेट हासिल नहीं कर सका। जिस संस्था में विद्यार्थी प्रवेश चाहता है वहीं के शिक्षक उचित जाँच के बाद अपनी जिम्मेदारी पर यह तय करेंगे कि इसमें उस विषय के लिए आवश्यक मौलिक गुण हैं या नहीं और अगर वे गलत व्यक्तियों को प्रवेश देते हैं तो इस में किसी दूसरे का कसूर नहीं होगा।

२—जहाँ भी काम के लिए व्यक्तियों को लिया जाता है जैसे—सरकारी दफ्तर, स्कूल, कालेज, व्यापारिक संस्थाएँ, फैक्टरियाँ, यातायात की कम्पनियाँ इत्यादि, इन सब में कर्मियों का चुनाव इसी प्रकार होना चाहिए। वे अपनी-अपनी समितियों के द्वारा खास-खास कामों के लिए प्रवेशार्थियों की योग्यता और स्वाभाविक वृत्तियों की जाँच करेंगे, न कि किसी विशेष स्कूल या कालेज के सार्टिफिकेट वालों को ही लेने की बात होगी। पब्लिक स्कूल-कमीशन की परीक्षाओं में बैठने के लिए किसी विश्वविद्यालय की डिग्री की जरूरत नहीं होनी चाहिए। प्रस्ताव सही दिशा में एक कदम है। यह कोई नया सिद्धान्त नहीं है। दुनिया भर में समझदार व्यवस्थापक यही करते आये हैं। प्रवेशार्थियों में जो भी योग्य पाये जाते हैं, उन्हें लिया जाता है, डिग्री वालों को ही नहीं।

३— इन सिद्धातों के अनुसार यदि काम होता है तो उपर्युक्त अधिकारों के दुरुपयोग की गुंजाइश नहीं होनी चाहिए। आज परस्थिति ऐसी है कि विश्वविद्यालय में प्रवेश के लिए मेट्रिक्युलेशन सार्टिफिकेट की जरूरत है। कई कामों में प्रवेश के लिए भी इसकी माँग है। होना यह चाहिए कि जो विद्यार्थी उच्च शिक्षा के लिए योग्य पाये जाते हैं उन्हें कालेजों में लिया जायगा, दूसरों को नहीं। दोनों को भी किसी सार्टिफिकेट की जरूरत न होगी।

४— ऐसे कुछ पेशे अवश्य हैं—डाक्टरी, नर्सिंग, वकालत इत्यादि, जिनमें काम करने वालों से एक अमुक निम्नतम स्तर की योग्यता की अपेक्षा रखनी पड़ती है । वह लोकहित के लिए जरूरी है; इसलिए उस काम में प्रवेश करने के पहले उन्हें अपनी कुशलता का कुछ प्रमाण देना आवश्यक होगा । इस लेख में हम इसके आखिरी स्वरूप पर नहीं, प्रशिक्षण के लिए विद्यार्थियों को लेने या चुनने के तरीके पर विचार कर रहे हैं ।

५— यह बिलकुल स्पष्टता से समझ लेना चाहिए कि राष्ट्र के सभी बच्चों के लिए अनिवार्य सार्वजनिक शिक्षा का सिद्धान्त लागू करने पर सब के लिए एक ही निर्धारित स्तर की इन बाह्य परीक्षाओं को हटाना ही होगा, जो आज के स्कूलों पर लादी जा रही हैं । बच्चों की व्यक्तिगत तथा विभिन्न वृत्तियों, अभिरुचियों और कुशलताओं के लिए समान आदर का ढिंढोरा पीटते हुए उसी समय सब को यान्त्रिक रूप से एक ही साँचे में ढाल देने का प्रयत्न निरर्थक है । मानव-जीवन में जो भी शुद्ध, सत्य और सुन्दर है उस पर इस सार्वत्रिक एकरूपता के प्रयास से उतनी भयंकर विपत्ति आ पड़ी है कि उस पर कितनी भी सख्ती से बोलो, अपर्याप्त ही होगा ।

इंग्लैण्ड में सार्वजनिक शिक्षा-व्यवस्था को अब नब्बे साल हो गये हैं; लेकिन एक-एक सार्वजनिक स्टेण्डर्ड या सार्टिफिकेट की व्यवस्था कभी नहीं थी, आज भी नहीं है। यह बात, जो अक्सर सुनाई देती है कि स्कूलों के एक विशेष स्तर पर पहुँचने के लिए बाह्य परीक्षाओं की जरूरत है, सर्वथा भ्रममूलक है । सभी स्कूल एक जैसे क्यों होने चाहिए ? भाग्यवश सब बच्चे एक जैसे तो नहीं हैं । जब यह सिद्धान्त मान्य होगा कि उच्च शिक्षा-केन्द्रों में और कामों में प्रवेशार्थियों को उनके व्यक्तिगत गुण और कुशलताओं के आधार पर ही लिया जायगा या उन से मुलाकात करके और विशेष जाँचों के द्वारा ही तय किया जायगा, किसी बाह्य सार्टिफिकेट की अपेक्षा नहींहोगी तब यह सार्वत्रिक स्टैण्डर्ड का 'वाद' भी अपने आप खत्म हो जायगा ।

६—अगर हम विचार को एक दफे हटाने में समर्थ होते हैं कि फलाँ सार्टिफिकेट होने से फलाँ काम और उसमें इतनी तनख्वाह और फलाँ स्टैण्डर्ड पर पहुँचने से फलाँ कालेज में प्रवेश मिलेगा तब आज जो 'पास' 'प्रमोशन' और 'इनाम' का लोभ विद्यार्थियों के मन को इतना घेर रखा है, उसके बदले सारी शिक्षा की प्रक्रिया की तरफ ज्यादा स्वस्थ वृत्तियों का निर्माण हो सकता है, जिससे बच्चा नयी-नयी अनुभूतियों के आनन्दपूर्ण जगत् में स्वतन्त्र विकास पायगा । वर्तमान व्यवस्था की परीक्षाओं में किसी न किसी तरह पास होने के तकाजे के कारण असत्य और अन्याय की प्रवृत्तियाँ बढ़ती हैं । उनका विस्तार यहाँ करना आवश्यक नहीं है । मैं कहना यह चाहती हूँ कि जब ये बाधाएँ और बन्धन हटा दिये जायेंगे तब शिक्षक और शिक्षार्थी एक मुक्ति का अनुभव करेंगे । तब उन पर अपने ही सत्य और कर्तव्य-बोध का बन्धन रहेगा । अपने समाज के सब बच्चों को अपनी शक्ति की मर्यादा के अन्दर शरीर की

मन की और आत्मा की अच्छी से अच्छी शिक्षा देने का कर्तव्य हर एक बच्चे को उसकी अपनी स्वाभाविक वृत्तियों और जरूरतों के अनुसार ज्यादा से ज्यादा विकास पाने का मौका देने का कर्त्तव्य। मुझे एक ही डर है कि हम अपने कैदखाने की व्यवस्था के पाठ्यक्रमों के, परीक्षाओं के इतने आदी हो गये हैं कि कहीं इनसे छुटकारा पाने का मौका मिलता है तो हम इनको लेना नहीं चाहेंगे। अगर ऐसा हुआ तो 'पूर्ण स्वराज्य' की हमारी आकाँक्षा एक स्वप्न-मात्र रहेगी।

सार्वजनिक परीक्षाएँ नहीं होंगी तो सार्वजनिक पाठ्य पुस्तकों की भी जरूरत नहीं होगी। भाषा की समस्या हल करने के लिए एक नया रास्ता खुल जायगा। नयी सम्भावनाएं निकलेंगी। प्रतिभाशाली शिक्षकों को नये तरीके से सोचने और काम करने का मौका मिलेगा। उनके द्वारा किए गए नए प्रयोग और नए अनुभव शिक्षा-जगत को अधिक समृद्ध बनायेंगे। खुले क्षेत्र में नयी तालीम के सिद्धान्तों की असली जाँच होगी। पुराने तरीकों के साथ जिनसे नयी तालीम का मेल नहीं है उसे जोड़ने का प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा। उससे निकले विद्यार्थी अपने ही गुणों के आधार पर आगे बढेंगे या अयोग्य साबित होंगे।

इस लेख में सार्वजनिक परीक्षा के बदले, जिसके नतीजों पर विद्यार्थी का सारा भविष्य निर्भर रहता है—विभिन्न कामों तथा विभिन्न विषयों के अध्ययन के लिए, विभिन्न गुणों और कुशलताओं की स्वतन्त्र जाँच होने की आवश्यकता बताने का प्रयास किया गया है। इन जाँचों का रूप क्या हो और उन में सुधार कैसे किया जाय, इसकी चर्चा नहीं की गयी है और उसकी जरूरत भी नहीं है। कई नये तालीम सम्मेलनों में ऐसी जाँचों के विशिष्ठ स्वरूपों पर चिन्तन और मनन हुआ है। इस क्षेत्र में प्रत्यक्ष प्रयोग के लिए प्रर्याप्त सामग्री उपस्थित है, केवल अमल करने की आवश्यकता है।

अपने रोग की सच्ची चिकित्सा और आत्मशिक्षा का यथार्थ ज्ञान आपको शिशुत्व की शाला में ही मिलेगा। शिशुत्व को अपनाओ——इसी में आप का कल्याण है।

——रस्किन

आचार्य कृपालानी

प्रजातन्त्र का उदय

संगठित समाजों में जो अन्याय और दमन होता आया था उसमें थोड़ा सुधार हुआ, फिर भी वह उस समय तक होता रहा, जब तक सामान्य व्यक्ति सदियों की अपनी तन्द्रा से जगा नहीं और अपने मालिकों के विरुद्ध खड़ा नहीं हो गया। इस संघर्ष से लोकतन्त्र की स्थापना हुई। लोकतन्त्र समाज व्यक्ति के नैतिक मूल्य पर बल देता है और उसकी प्रतिष्ठा और महत्व को मानता है। इसमें व्यक्ति का राजनीतिक शोषण समाप्त हो जाता है अथवा कम से कम कुछ हद तक घट तो जाता ही है। इसमें पक्षों की आन्तरिक हिंसा मिट जाती है। किसी मामले के सुलझाव के लिए सिर नहीं काटा जाता, गिना जाताहै। प्रत्येक सिर एक का प्रतिनिधित्व करता है। लोकतन्त्र में एक सरकार की जगह दूसरी सरकार की गुंजाइश है और इसके अन्तर्गत हिंसा का सहारा लिए बिना शासन बदला जा सकता है।

अतः इसमें स्वतन्त्रता के साथ उत्तरदायित्व बढ़ जाता है। इस प्रकार प्रजातन्त्र राजनीतिक क्षेत्र में नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों का प्रतिनिधित्व करता है। इसीलिए तो नहीं कि लोकतन्त्र के देशों में जहां कहा जाता है कि तथाकथित मजदूर पेशा लोग बन्धनों से जकड़े हुए हैं, अपनी कठिनाइयों के हल के रूप में तानाशाही साम्यवाद को अपनाने से इन्कार करते हैं ? उन लोगों ने बड़ी कठिनाई के साथ काफी दुख सह कर राजनीतिक समानता और स्वतंत्रता पायी है, जिस में व्यक्ति की प्रतिष्ठा का कुछ आश्वासन प्राप्त है। वे अपनी राजनीतिक समानता और स्वतन्त्रता को एक ऐसी क्रान्ति के लिए खतरे में डालने को तैयार नहीं हैं, जिसका परिणाम अनिश्चित है। वे यही चाहेंगे कि उनकी यह स्वतन्त्रता बनी रहे और अधिक विस्तृत हो, ताकि उसमें आर्थिक सुदृढ़ता भी आ जाय।

अगर राजनीतिक जीवन में लोकतन्त्र के सिद्धान्त को पूरा विकास करने का मुक्त अवसर दिया गया होता तो दुनिया के देश आन्तरिक संघर्षों से बच गये होते और यथा-समय अपनी दर्दनाक आर्थिक विषमता मिटा कर समग्र और एक रस सामाजिक व्यवस्था कर सके होते। ऐसे समाज में किसी व्यक्ति को अपने निजी समाधान और मुक्ति की खोज में किसी मठ की चहारदीवारी के भीतर या जंगल में खोजने-भटकने की आवश्यकता शायद न पड़ती; लेकिन समाज की प्रगति सदा सीधी लाइन में नहीं होती। उसका मार्ग तो ऊपर चढ़ता हुआ; लेकिन बहुत टेढ़ा-मेढ़ा होता है। वहां प्रगति है तो अवनति भी है। मनुष्य ने जब लोकतन्त्र की खोज की तो उसने अपने वैज्ञानिक शोधों द्वारा प्राकृतिक शक्तियों के नियंत्रण और उपयोग पर अपूर्व शक्ति प्राप्त कर ली। इस शक्ति से नये भूखण्डों की खोज के साथ औद्योगिक क्रान्ति और आधुनिक युग के साम्राज्य का प्रारम्भ हुआ।

ये शक्तियां किस प्रकार क्या-क्या परिवर्तन लायीं, यह एक लम्बी कहानी है। ये आज भी क्रियाशील हैं और उनकी गति समाप्त नहीं हुई है; बल्कि उसके एक से एक विस्मयजनक अध्याय बनते जा रहे हैं। उनकी दूसरी उपलब्धियाँ कुछ भी हों पर इतना निश्चित है कि औद्योगिक क्रान्ति ने पुराने विभाजनों और विषमताओं को दूसरे स्तर पर पहुंचा दिया। कहीं-कही उनको अधिक विकृत और सघन बना दिया। इसलिए समाज में सम्पन्न और विपन्न का, यंत्रों के मालिक और मजदूर का तथा बुर्जुआ और सर्वहारा का भेद पैदा कर दिया। ऐसे समाज में लोकतन्त्र का वोट जो व्यक्ति की प्रतिष्ठा और समानता का द्योतक है, अपना बहुत सारा मूल्य खो देता है। इसके परिणाम स्वरूप पुराने विरोध आर्थिक क्षेत्र में नये रूप में फिर प्रकट हो गये। जैसे पहले राजनीतिक सत्ता से आर्थिक प्रभुत्व प्राप्त होता था उसी तरह अब आर्थिक सत्ता से राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त होने लगा। फिर वही दृश्य प्रकट हो गया—व्यक्ति नैतिक, समाज अनैतिक।

मार्क्सवाद का पक्षपात

अतः मानव की आगे की प्रगति के लिए जरूरी हुआ कि राजनीतिक लोकतन्त्र के साथ आर्थिक समता को जोड़ा जाय। यह नया सुधार समाजवाद की ओर एक कदम था। समाजवाद आर्थिक क्षेत्र में भी मानव की समानता का दावा करता है। इसलिए यह एक नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धान्त है; लेकिन उस पर बल देते हुए इसके समर्थकों ने उसे एक सामान्य भौतिक सिद्धान्त बना दिया। अर्वाचीन समाजवाद ने, जिसका जन्म इस यन्त्रमय, केन्द्रित और पूंजीवादी उद्योग के युग में हुआ है—सोचा कि आज समाज में जो नैतिक मूल्य प्रचलित हैं—वे सब ऐसे वर्गों के पैदा किये हुए हैं, जिनके हाथ में आर्थिक प्रभुत्व रहा है। इसने पूंजीवादी को भ्रम से लोकतन्त्र समझ लिया और यह भूल गयां कि पूंजीवाद ने स्वतन्त्र और जिम्मेदार व्यक्ति को खतम करके लोकतन्त्र के सिद्धान्त को सब से बड़ी क्षति पहुंचाई। राजनीतिक

लोकतन्त्र ने पहले जो प्रगति की थी उसको खतम करके समता का समाजवादी सिद्धान्त सामने आया ।

साथ ही यह भी हुआ कि अपनी तमाम बुराइयों के साथ पूंजीवाद अनुशासन हीन और गैर जिम्मेदार "व्यक्ति" की स्वतन्त्रता के साथ जोड़ दिया गया । इसीलिए समस्या का हल यह सोचा गया कि न केवल मर्यादाहीन और गैर जिम्मेदार व्यक्तिवाद को समाप्त किया जाय; बल्कि स्वतन्त्र व्यक्ति को भी खतम कर दिया जाय । मार्क्सवादी के लिए तो व्यक्ति सामाजिक सम्बन्धों का एक घटक मात्र था । इस लिए उसने जो हल सुझाया वह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण दृष्टि से रोग से बदतर था । वह तो रोग के साथ रोगी को भी खतम कर देना था । निःसन्देह व्यक्ति को खतम देने को युक्ति संगत सिद्ध करना आसान नहीं था । इस लिए सम्पूर्ण साम्यवाद का अवतरण हो जाने पर यानी जब कि श्रमिक वर्ग के निरंकुश अधिकार के परिणामस्वरूप वर्गहीन और शासनहीन समाज अपने आप प्रतिफलित हो चुका होगा तब उस—व्यक्ति के पुनरुत्थान का आश्वासन दिया जाता है, जिसने आध्यात्मिक पुन-रुत्थान पर विश्वास नहीं किया । वह हमें वचन देता है कि भौतिक शक्ति के द्वारा व्यक्ति का पुनरुत्थान होगा ।

रूस में समाजवाद के नए सिद्धान्तों को कार्यान्वित होते हम देख रहे हैं । उसका दावा है कि उसने आर्थिक क्षेत्र में समता स्थापित करने की ओर बहुत प्रगति की है । हम इस दावे को स्वीकार कर भी लें तब भी उसे इसके बदले में व्यक्ति के अभिक्रम और स्वतन्त्रा की हत्या का मूल्य चुकाना पड़ा है । यह अनिवार्य है; क्योंकि नयी नीति के अनुसार वर्ग या समाज के सम्बन्धों से अलग व्यक्ति का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व या मूल्य कुछ है ही नहीं । इसमें और किसी प्रकार के मामलों में साम्यवाद और फासिस्टवाद व्यक्ति को राष्ट्र या जाति के शरीर का एक जीवकोश-मात्र मानता है, साम्यवाद सामूहिक श्रमिक जगत् का एक जीव-कोष मानता है । जब तक विश्व के सारे श्रमिक एक न हो जायं और सत्ता हाथ में न ले लें तब तक रूस में व्यक्ति उसी तरह एक छोटा नगण्य सेल है, जिस तरह वह फासिस्ट जर्मनी या इटली में है । फासिस्टवादी राज्य का व्यक्ति और साम्यवादी राज्य का व्यक्ति दोनों शरीर के जीवकोष के ही समान स्वतन्त्र हैं यानी किसी वारिष्ठ संगठन की मर्जी के अनुसार चलने भर को स्वतन्त्र हैं, उसका अपना जीवन या अपनी मर्जी कुछ नहीं रहती ।

रूस के साम्यवाद में जिसकी लम्बी डींग हाँकी जाती है आर्थिक समानता का आधार बड़े-बड़े केन्द्रित और यन्त्रचालित उद्योग और कृषि हैं । राज्य के हाथों में जिस आर्थिक और राजनीतिक सत्ता का केन्द्रीयकरण हुआ, उसका परिणाम यह आया कि वह तानाशाही, श्रमिक समाज के हाथों में रहने के बजाय उसकी पार्टी के मुट्ठी भर लोगों के हाथ में आयी और अंततः एक व्यक्ति के हाथ में केन्द्रित हो गयी । क्रमशः

व्यवस्था विभाग

विषय

बुनियादी शिक्षक क्रमशः शिक्षकों और अभिभावकों के लिये दिशा-दर्शन मात्र है। इसका उद्देश्य है—समय, समय पर होने वाले शैक्षणिक परिवर्तनों की जानकारी देना, शिक्षा में फैली हुई भ्रान्तियों को दूर करना और शिक्षा के लक्ष्य एवं कार्यक्रम में स्थायित्व लाने का सतत प्रयास करना।

समय

पत्रिका का प्रत्येक अंक महीने की पहली तारीख को निकलता है। इसके लिए लेखन सामग्री हर महीने की १५वीं तारीख तक हमारे कार्यालय में 'सम्पादक बुनियादी शिक्षक' के नाम आ जाना चाहिए।

सदस्यता शुल्क

पत्रिका का वार्षिक शुल्क पाँच रुपये मात्र है, जो अग्रिम लिया जाता है। पत्रिका वी० पी० पी० से नहीं भेजी जाती। विशेष जानकारी के लिए कार्यालय को लिखें।

व्यवस्थापक :

बुनियादी-शिक्षक

लखनऊ

प्रकाशक

बुनियादी साहित्य प्रकाशन

लखनऊ

मुद्रक

साथी प्रेस

लखनऊ

चन्दा - दर

वार्षिक : ५ रुपये

मासिक : ५० नये पैसे

जिन्होंने मानव पर शासन करने की कला का अध्ययन किया है, उन्हें यह विश्वास हो गया है कि बच्चों की शिक्षा पर ही राष्ट्रों का भाग्य आधारित है और यह काम कुशल शिक्षक ही कर सकते हैं : इसलिए किसी भी राष्ट्र का प्रमुख कार्य अध्यापकों को समुचित प्रशिक्षण देना, होना चाहिए ।

—अरस्तू